राजव्यवस्था

सर्वोदय दृष्टि से

लेखक
'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और 'मानव संस्कृति' आदि के रचयिता
भगवानदास केला

प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला
दारागंज, इलाहाबाद

इस पुस्तक के सम्बन्ध में

ग्यारह वर्ष पहले की बात—'तुमने अब तक एक खास तरह का राजनीति-शास्त्र अध्ययन किया है। तुम्हें शरीर बल (पाशविक शक्ति) और शस्त्रास्त्रों द्वारा किये जाने वाले दमन और आतंक का भरोसा रहा है। अब तुम्हें नया पाठ पढ़ना है; सेवा, त्याग और बलिदान की महिमा सीखनी है। यह तुम्हें कुछ अरुचिकर और अटपटा प्रतीत होगा, परन्तु मानव जाति के शुभ भविष्य के लिए और स्वयं अपने आत्मोद्धार के लिए तुम्हें इसका स्वागत करना चाहिए। निश्चय करो, अब राजनीति कुटिल नीति न हो, धर्म-नीति हो; दमन-नीति न होकर प्रेम-नीति हो; तभी तुम्हारा नीतिज्ञ होना सार्थक होगा।'

ये शब्द मैंने सन् १९४४ में लिखी अपनी 'भावी नागरिकों से' पुस्तक में, राजनीतिज्ञ बनने वाले को कहे थे।

मेरी 'अन्तिम पुस्तक' और भावी राजनीति की कल्पना—उपर्युक्त पुस्तक लिखते समय मैंने उसे अपनी 'अन्तिम पुस्तक' माना था। बात यह थी कि मेरा स्वास्थ्य उस समय ऐसा हो चला था कि मैं अपने को मृत्यु की गोद में जाने वाला समझता था, बचने की कोई आशा न थी। अपने उत्तराधिकारियों के रूप में भावी नागरिकों से कुछ जरूरी बातें कह देने की बेचैनी थी। उस पुस्तक में यह भी लिखा था—

'स्पष्ट है कि जब तक राजनीति में महात्मा और साधु-स्वभाव महानुभावों को यथेष्ट स्थान न मिलेगा, वास्तविक उद्देश्य सिद्ध न होगा। जो विजय या सफलता होगी, वह क्षणिक ही रहेगी। स्थायी सफलता के लिए राजनीति का कायाकल्प करना होगा; यह मंत्र ग्रहण करना होगा कि जिस प्रकार समाज के हित में व्यक्ति का हित है, उसी प्रकार संसार के कल्याण में ही किसी राज्य का कल्याण है। जैसे व्यक्तियों को अपने पराये का भेद हटाना है, उसी तरह राज्यों को भी अपने पराये का भेद हटाना है। मानव जाति की उन्नति सत्य और अहिन्सा से होगी।'

'भावी संसार में राजनीति का अर्थ कूटनीति और शासन का अर्थ आतंक या दमन न होगा। प्रत्येक राज्य में प्रबन्ध, कानून-निर्माण और न्याय विभागों के सूत्र-धार लोकसेवी, परोपकारी, न्यायशील महानुभाव होंगे, जिनके रोम-रोम में विश्व-प्रेम और विश्वबन्धुत्व की भावना होगी। अधाधुंध जन-संहार करने वाली सेनाओं का स्थान सत्याग्रही अहिंसक स्वयंसेवक लेंगे, जो अपनी जान पर खेल कर भी दूसरों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझेंगे।'

\+ \+ \+

'कोई राज्य दूसरे के अधीन न होगा, सब समान रूप से स्वतंत्रता का उपयोग करेंगे। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और नाजीवाद इतिहास की गयी–गुजरी बातें होंगी; सब राज्यों का आपस में सहयोग और सहानुभूति होगी, सब एक विश्व-संघ के सदस्य होंगे। सब की नीति 'जीओ और जीने दो' होगी ! सब की मनो-कामना यह रहेगी कि हमारे जीवन से दूसरों को भी जीवन मिलें, हमारा सुख सब को सुख देने वाला हो।'

'हे राजनीतिज्ञ ! तुम नवयुग के इस संदेश को सुनने के लिए ही नहीं, इसे अमल में लाने के लिए भी तैयार रहो।'

सर्वोदय साहित्य की ओर—उस समय मुझे मालूम होता था कि मेरा जीवन समाप्त हो रहा है, आखिरी घंटी बज गयी है। मैं यह सोच ही नहीं सकता था कि मुझे अपनी उपर्युक्त बातों का 'भाष्य' करने का भी सुअवसर मिलेगा। पर, ईश्वर की इच्छा ! मेरा जीवन समाप्त नहीं हुआ, वह चलता रहा और उसके साथ मेरी लेखनी भी चलती ही रही। यही नहीं; छः वर्ष बाद सन् १९५० में मरी विचारधारा कुछ मोड़ लेती हुई मालूम पड़ी और मैंने एक लेख—'यह कैसा अर्थशास्त्र'—लिखा, जो कई पत्रों में प्रकाशित हुआ और बहुत से अर्थशास्त्र-लेखकों और शिक्षा संचालकों को भेजा गया। मैं चाहता था कि आर्थिक दृष्टि में परिवर्तन हो और कोई विद्वान नैतिक और मानवीय विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र की रचना करें। अन्त में मैंने श्री जवाहरलाल जैन (उस समय, सम्पादक 'लोकवाणी') से विचार-विनिमय करके 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' तैयार किया। उसी के साथ भाई जवाहरलाल जी की लिखी सामग्री 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था' नाम से प्रकाशित की गयी। इन दोनों पुस्तकों से सर्वोदय ग्रन्थमाला का श्रीगणेश हुआ, जिसमें अब ग्यारह पुस्तकें हो गयी हैं।

अर्थशास्त्र की तरह राजनीति पर सर्वोदय दृष्टि से लिखने का

विचार मेरे मन में बारबार आया। अपने स्वास्थ्य तथा साधनों से बहुत आशा न करके मैंने बीच में 'सर्वोदय राज, क्यों और कैसे ?' पुस्तक पाठकों की सेवा में उपस्थित कर दी ? तथापि मेरे मन में कुछ विस्तार से लिखने की आवश्यकता बनी रही।

मेरा सौभाग्य—आखिर, इस रचना का काम हाथ में ले लिया गया। यों तो मुझे अपनी रचनाओं में हमेशा ही आनन्द मिला है, और सर्वोदय साहित्य रचना ने तो मुझे मानों संजीवनी प्रदान की है, पर इस पुस्तक से तो मैं बहुत ही कृतार्थ हुआ हूँ। इसके निमित मुझे इस युग की महान विभूति गांधी जी के विश्व-कल्याणकारी संदेश पर विशेष विचार करने का मौका मिला है। ऐसी अनुभूति हुई है कि मानों साक्षात उनसे भेंट हो रही है, मैं उनके प्रवचन सुन रहा हूं, मेरा शंका-समाधान हो रहा है। इस रचना के सम्बन्ध में श्रद्धेय श्रीकृष्णदास जाज्, बन्धुवर सिद्धराज ढड्डा, पूर्णचन्द जैन, प्रेमनारायण माथुर, और सुरेशरामभाई से विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। भाई जवाहरलाल जैन का तो विशेष ही सहयोग प्राप्त हुआ; संयोग से जब मैं स्वास्थ्य-लाभ के लिए प्राकृतिक चिकित्सालय गांधीनगर (जयपुर) में ठहरा हुआ था, आपको भी कुछ समय वहां रहना पड़ा। इस प्रकार मैं अनायास आपके परामर्श से लाभ उठा सका। अस्तु, जीवन का जो समय ऐसे विषय के चिन्तन-मनन या पढ़ने-लिखने में लगा, वह बहुत आनन्ददायक रहा।

कुछ कठिनाइयां—लेखन कार्य में—और सभी कार्यों में—अस्वस्थता बाधक होती है। इस रचना में भी यह हुआ, खासकर इसलिए कि मुझे प्रयाग से जयपुर आकर रहना पड़ा। हाँ, इसका दूसरा पहलू भी था, अस्वस्थ रहने के कारण मन में यह भावना रही कि अच्छा है यह कार्य पूरा हो जाय, बहुत समय तक टलता न रहे। इस प्रकार जहां तक बना इस काम का सिलसिला टूटने न दिया। मुख्य कठिनाई स्वयं पुस्तक के विषय की थी। पुस्तक का नाम निश्चित करना ही एक बड़ी समस्या थी, कई नाम सामने आये, आखिर एक निश्चय करना ही था। फिर, पुस्तक का क्षेत्र क्या हो, इसमें किन-किन विषयों का, किस क्रम से समावेश हो, यह भी कई बार सोचना पड़ा। विषय-सूची बारबार बदली गयी। अन्त में जो रखी गयी, वह पाठकों के सामने है। आधुनिक वातावरण में कितने ही पाठकों को इस पुस्तक के कुछ स्थल बड़े अजीब और अव्याव-हारिक मालूम होंगे, तथापि विषय बहुत गम्भीरता-पूर्वक विचार करने का है।

सर्वोदय संदेश के हर पहलू की सत्यता को समझना और अपनाना है। जो सज्जन इस पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान दिलाएंगे, और कुछ रचनात्मक सुझाव देंगे उनका मैं बहुत आभार मानूंगा।

कृतज्ञता-प्रकाशन—जिन सज्जनों से मुझे इस कृति में सहायता मिली है, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। भाई सिद्धराज जी ढड्ढा (उपाध्यक्ष, समग्र सेवा संघ, राजस्थान) ने इसकी भूमिका लिखने की भी कृपा की है। इन सब का मेरे प्रति इतना स्नेह है कि मुझे इनको धन्यवाद देना ठीक नहीं लगता। हां भाई ढड्ढा जी का मुझे 'ज्ञान में' और 'सब बातों में' बड़ा मानना स्वयं उनका बड़प्पन, है। वे पिछले वर्षों में छलांग मार कर मुझसे कहीं अगे बढ़ गये हैं। मैं अब उन्हें पकड़ने की कोशिश नहीं करता; उन जैसे रचनात्मक कार्य करने वालों के सत्संग से ही संतोष मान लेता हूँ।

हिन्दी-प्रेमी बंधुओं से—सर्वोदय-संदेश को भारत के नगर-नगर और गांव-गांव में ही नहीं, घर-घर पहुंचाना है। सभी भाषाओं में काम करना है। पर सब से अधिक जिम्मेवारी उनकी है, जो हिन्दी को विशेष स्थान देते हैं, और दिलाना चाहते हैं। सर्वोदय, युग की मांग है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध—हर क्षेत्र में सर्वोदय की ध्वनि हो। किसी को यह कहने का मौका न मिले कि हिन्दी वाले इस महान कर्तव्य के पालन में पीछे रह गये। जिस रचना में मानवता की भावना न हो, आत्मीयता की झलक न हो, लोकसेवा की गूंज न हो—उसके लिए कागज और स्याही खराब करना किसी भले आदमी को शोभा नहीं देता। अस्तु, लेखक बंधु सर्वोदय की बात करें, प्रकाशक ऐसे साहित्य के प्रचारक हों, अध्यापक फालतू बातों को समझाने में अपनी शक्ति न लगावें, और पाठक भी अपने दिमाग पर अनावश्यक बोझ न डालें। सब मिल कर सर्वोदय का चिन्तन-मनन करें और तदनुसार व्यवहार करें; तभी जीवन की सार्थकता है।

विनीत

भगवानदास केला

सहायक साहित्य

स्वराज्य शास्त्र	विनोबा
धर्म-चक्र प्रवर्तन	,,
अहिन्सक क्रान्ति का संदेश	जयप्रकाश नारायण
भावी भारत की एक तसवीर	किशोरलाल मश्रूवाला
मानवीय क्रान्ति	दादा धर्माधिकारी
दंड-निरपेक्ष समाज रचना	धीरेन्द्र भाई मजूमदार
गांधी मार्ग	आचार्य कृपलानी
गांधी ग्रन्थ	प्रेमनारायण माथुर
गांधी वाणी	रामनाथ सुमन
गांधीवाद की रूपरेखा	,,
सर्वोदय तत्व दर्शन	गोपीनाथ धावन
सर्वोदय अर्थव्यवस्था	जवाहिरलाल जैन
सर्वोदय की दिशा में	,,
सम्पत्तिदान यज्ञ	श्रीकृष्णदास जाजू
भूदान दीपिका	विमला बहन ठकार
नया हिन्द	ब्रजमोहन
सर्वोदय अर्थशास्त्र	भगवानदास केला
सर्वोदय राज, क्यों और कैसे	,,
मानव संस्कृति	,,
भावी नागरिकों से	,,

सर्वोदय, हरिजनसेवक, नया हिन्द, लोकवाणी, राजस्थान, भूदान (अब भूदान यज्ञ) आदि पत्र-पत्रिकाएँ।

सर्वोदय ग्रन्थमाला

(१) **सर्वोदय अर्थशास्त्र**—संसार में सुख शान्ति चाहने वाले राजनीतिज्ञों, अध्यापकों और पाठकों के लिए बहुत आवश्यक। (मूल्य, चार रुपये)

(२) **सर्वोदय अर्थव्यवस्था**—पूंजीवादी और साम्यवादी अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा सर्वोदय अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता का सुन्दर विवेचन। (मूल्य, डेढ़ रुपया)

(३) **हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो?**—अर्थशास्त्र में सर्वोदय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता का विचार। (मूल्य, चार आने)

(४) **सर्वोदय राज-क्यों और कैसे?**—स्वदेशी राज्य होने पर भी वास्तविक स्वराज्य नहीं हुआ। सर्वोदय राज की रूप-रेखा देखिए और विचार कीजिए। (मूल्य, दस आने)

(५) **मानव संस्कृति**—संस्कृति क्या है, इसके विविध पहलू कौन-कौन से हैं। इसका विकास किस तरह होता है, विविध देशों ने इसमें क्या योग दिया है—इन प्रश्नों का विचार। (मूल्य, ढाई रुपये)

(६) **समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय**—मानव प्रगति में पूंजी-वाद, समाजवाद, तथा साम्यवाद आदि का भाग; और सर्वोदय की विशेषता। (मूल्य, बारह आने)

(७) **मेरा जीवन; सर्वोदय की ओर**—श्री भगवानदास केला जी के जीवन की झाँकी तथा सर्वोदय यात्रा आदि का विचार। (मूल्य, पांच आने)

(८) **सर्वोदय; दैनिक व्यवस्था में**—खान पान, पहनावे, खेती उद्योग, शिक्षा और चिकित्सा आदि में सर्वोदय। (मूल्य, छः आने)

(९) **राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से।** (मूल्य, डेढ़ रुपया)

(१०) **आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम।** (मूल्य, सात आने)

(११) **प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यों?** (मूल्य, पांच आने)

भूमिका

सर्वोदय शब्द आजकल बहुत व्यापक हो रहा है। आज के युग में शब्दों का प्रचार बहुत आसान चीज है। छापाखाने, अखबार, रेडियो, तार और टेलीफोन इत्यादि साधनों के कारण शब्द कुछ क्षणों में ही दिग्दिगन्त में फैल जाता है, और करोड़ों लोगों की जबान पर भी आ जाता है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि शब्द के साथ-साथ वह विचार भी, जिसका कि वह शब्द द्योतक है, उतना ही व्यापक हो जाय। विचार का मन में उतरना और हजम होना समय लेता है। अतः शब्द के फैलाव और विचार के फैलाव के बीच के समय का अन्तर (Time-lag) आज के युग की एक विशेष परिस्थिति है। नतीजा यह होता है कि शब्द का प्रचार जितना ज्यादा होता है उतना ही संबंधित विचार सही रूप में फैलने के बजाय उसका विकृत या अधकचरा स्वरूप ही अधिक फैलता है।

सर्वोदय विचार के बारे में भी ऐसा ही हो रहा है। शब्द दिन-दिन फैलता जा रहा है, पर उसका वास्तविक अर्थ, और उस विचार को स्वीकार करने से होनेवाला नतीजा, बहुत कम लोगों की समझ में आ रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोदय का विचार नया नहीं है, कम-से-कम भारत के लिए नहीं है। पर समाज-शास्त्र के क्षेत्र में, अर्थात् राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था तथा अर्थ-व्यवस्था इन सब क्षेत्रों में, सर्वोदय का विचार हमारी प्रचलित धारणाओं और मूल्यों से बिल्कुल भिन्न या विपरीत पड़ता है। इसलिए सर्वोदय-विचार को समझना और उसे ग्रहण करना दूसरे विचारों की अपेक्षा मुश्किल मालूम होता है। फिर भी लोगों में यह धारणा बनती जा रही है कि सर्वोदय-विचारधारा आज की हमारी विषम समस्याओं को सुलझाने का एक कल्याणकारी मार्ग बताती है। अतः सर्वोदय-सिद्धान्तों के अनुसार समाज-रचना कैसी होगी इसका पूरा चित्र समझने की उत्कण्ठा और उत्सुकता विचारशील लोगों में दिनोंदिन बढ़ रही है।

जहां तक आर्थिक क्षेत्र का ताल्लुक है, मोटे रूप में लोग समझने लग गये हैं कि सर्वोदयी व्यवस्था में स्वावलंबन और विकेन्द्रित पद्धति पर जोर रहेगा। अर्थात्, समाज की अर्थ-रचना बड़े-बड़े केन्द्रित कारखानों के बजाय ग्राम और गृह उद्योगों पर आधारित होगी। पश्चिमी अर्थशास्त्र मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करके गलत रास्ते पर जा रहे हैं, इसकी चेतावनी तो रस्किन, टालस्टाय, कार्लाइल आदि विचारकों ने १९वीं सदी में ही दे दी थी। पर मानवीय अर्थशास्त्र का व्यवहार में स्वरूप क्या होगा, इसका स्पष्ट चित्र गांधीजी ने संसार के सामने रखा। सन् १९०८ में जब गांधीजी ने "हिन्द-स्वराज्य" किताब लिखी तब से लेकर १९४८ में अपने बलिदान तक के ४० वर्ष के लम्बे समय में उन्होंने निरन्तर ग्रामोद्योग और स्वावलम्बन पर आधारित मानवीय अर्थशास्त्र के विचार दुनिया को दिये। इतना ही नहीं, कल-कारखानों के युग में अखिल भारत चर्खा संघ जैसी संस्था की स्थापना करके तथा चर्खे और खादी को व्यापक रूप में देश में प्रतिष्ठित करके उस अर्थशास्त्र का प्रयोग करके भी बताया। २५-३० वर्ष तक खादी के क्षेत्र में अर्थशास्त्र के जो विविध प्रयोग चर्खा संघ के द्वारा गांधीजी ने कराये, वह कहानी अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक रोचक इतिहास है।

पर शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में सर्वोदय-विचारों के प्रयोग का मौका गांधीजी को नहीं मिला। वैसे राजनीति में सत्य और अहिंसा के साधनों का प्रयोग तो उन्होंने, संसार के इतिहास में कभी नहीं हुआ ऐसा, अभूतपूर्व और व्यापक रूप में किया। सत्याग्रह जैसे शस्त्र की खोज और उसका उपयोग भी राजनीति के क्षेत्र में उनकी अमर देन थी। सर्वोदय विचार के अनुसार समाज में राज्य-व्यवस्था या शासन-व्यवस्था कैसी होगी या होनी चाहिए उसकी कल्पना भी गांधीजी ने अपने लेखों में कई जगह दी है। पर जब तक विदेशी शासन मुल्क में मौजूद था तबतक इस बारे में व्यापक प्रयोग करने या इस विषय के विचारों की अधिक चर्चा और छानबीन का मौका नहीं था। अतः सर्वोदय व्यवस्था में शासन का स्वरूप क्या होगा यह कल्पना अभी तक लोगों के सामने स्पष्ट नहीं है।

आजादी के बाद इस विषय पर चिन्तन बढ़ रहा है। प्रचलित राजनीति-शास्त्र में जो धारणाएं और सिद्धान्त आज स्वीकृत हैं उनसे भिन्न नये विचार और धारणाएं आज विनोबा जी की वाणी से उसी तरह निकल रही हैं—जैसे आर्थिक क्षेत्र में

गांधीजी की वाणी से चर्खे और खादी के विचार निकले थे। पक्ष-रहित लोकशाही, बहुमत के शासन के बजाय निर्दलीय और सर्व-सम्मत शासन-प्रणाली इत्यादि विचार धीरे-धीरे स्पष्ट रूप लेते जा रहे हैं।

वैसे तो सर्वोदय और शासन ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी हैं। सर्वोदय की अन्तिम कल्पना तो शासन-मुक्त समाज की है—ऐसा समाज जिसमें कोई शासक और कोई शासित नहीं होगा और जिसमें अनुशासन और व्यवस्था, दण्ड या किसी बाहरी शक्ति पर आधारित न होकर आन्तरिक-प्रेरणा पर ही कायम होगी। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि शासन-मुक्त समाज का मतलब अराजकता की स्थिति नहीं है। शासन-मुक्त समाज में भी व्यवस्था तो रहेगी ही, इतना ही है कि उसका आधार दण्ड नहीं होगा। समाज की व्यवस्था दण्ड-निरपेक्ष होगी। जैसा श्री धीरेन्द्र भाई (श्री धीरेन्द्र मजूमदार, भूतपूर्व अध्यक्ष अखिल भारत चर्खा संघ तथा वर्तमान अध्यक्ष, अ० भा० सर्व सेवा संघ) ने एक जगह लिखा है, राज्य का समाज में वही स्थान होगा जो रेल के डिब्बे में खतरे की जंजीर का होता है। खतरे की जंजीर गाड़ी में मौजूद रहती है पर हमें उसके अस्तित्व का भान तक नहीं होता, जबतक कि कोई खतरा उपस्थित न हो। और यह स्थिति भी आखिर करीब-करीब आखिरी मंजिल है। मौजूदा दुनिया तो आज इसके बिल्कुल विरोधी सिरे पर खड़ी है। आज राजसत्ता सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान बन रही है, चाहे कोई राष्ट्र खुल्लमखुल्ला एकतन्त्रवादी या तानाशाही में विश्वास रखनेवाला हो या फिर तथाकथित जनतंत्र में। जीवन के हर पहलू पर आज राजसत्ता और दण्ड का नियंत्रण है। दण्ड पर आधारित राजनीति के अलावा समाज में आज दूसरी कोई 'नीति' नहीं रही है। यह साफ है कि इस मौजूदा दशा से दण्ड-निरपेक्ष समाज की स्थिति तक हम एकदम नहीं पहुँच सकेंगे। रास्ते में कई मंजिलें और मुकाम आयेंगे, जिन्हें तय करना पड़ेगा। सर्वोदय, अर्थात् शासनमुक्त समाज, के लक्ष्य की ओर हम बढ़ेंगे तब बीच के मुकामों की व्यवस्था के बारे में हमें बहुत कुछ सोचना और करना पड़ेगा; इसलिए सर्वोदय और शासन ये दो विचार परस्पर विरोधी होते हुए भी हमें "सर्वोदय शासन-व्यवस्था" की कोई तस्वीर प्रस्तुत तो करनी पड़ेगी।

श्रद्धेय श्री भगवानदास जी केला की यह पुस्तक ऐसा चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयत्न है। श्री केला जी से हिन्दी संसार और विचारक समाज भलीभांति

परिचित है। समाज-शास्त्र के दायरे में आने वाले विषयों पर उन्होंने बीसों पुस्तकें लिखी हैं। मुझसे तो वय में और ज्ञान में, सब बातों में, वे बड़े हैं। इसलिए प्रस्तावना के रूप में ये कुछ शब्द लिखने में स्वाभाविकतया मुझे बड़ा संकोच हो रहा था। श्रद्धेय केला जी ने मुझे इसके लिए कहा यह उनका बड़प्पन है। पर इस विषय में मेरा भी चिन्तन चलते रहने के कारण और सर्वोदय व्यवस्था में शासन का स्वरूप क्या होगा उसका चित्र लोगों के सामने आवे, ऐसी उत्कट इच्छा होने के कारण श्रद्धेय केला जी के आदेश का पालन मेरे लिए एक कर्तव्य भी था। मुझे इसमें कोई शंका नहीं है कि यह पुस्तक हिन्दी जगत की ही नहीं, आज के विचारों की दुनिया की भी, एक बड़ी कमी पूरी करेगी और इस विचार-श्रृंखला को आगे बढ़ाने में साधन-रूप होगी।

जयपुर
२१ अक्टूबर १९५४

सिद्धराज ढड्ढा

विषय-सूची

पहला खंड

राजनीति और गांधीजी

दूसरा खंड

सर्वोदय में समाज का आदर्श

४—स्वयं अनुशासित व्यक्ति

५—शोषणहीन समरस समाज

६—शासन-मुक्ति

७—सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व

तीसरा खंड

सर्वोदय में राज्य का स्वरूप

पहला खंड

राजनीति और गांधी जी

साधु सन्तों का कार्यक्षेत्र यह संसार नहीं होता, उन्हें मुख्य चिन्ता आत्मा की मुक्ति की होती है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर उनका प्रभाव परोक्ष रूप से होता है। वस्तुतः इन प्रश्नों को वे अलग रख छोड़ते हैं। उनका मत होता है कि पंगु कर देने वाली वाह्य परिस्थितियों में भी मनुष्य की आत्मा स्वतंत्रता और मुक्ति के प्रदेश में ऊंचे उड़ सकती है। इसके विपरीत, गांधी जी का यह मत था कि जनसाधारण की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए संगठित जीवन की सही और उचित व्यवस्था उतनी ही आवश्यक है, जितना शरीर का स्वास्थ्य।

सर्वोच्च नैतिक गुणों के रूप में सत्य और अहिन्सा संसार के इतिहास में कोई नयी चीज नहीं हैं। ईसा, बुद्ध और अन्य नये पुराने पैगम्बरों और सुधारकों ने उनका प्रचार किया है। नयी चीज है इनका, सामुदायिक जीवन पर और राजनीतिक क्रान्ति की आवश्यकता के लिए, प्रयोग करना।

—जी० भ० कृपलानी

यदि राजनीति का उद्देश्य मानव समाज की सुख-शान्ति और उन्नति करना है तो क्या उसमें महात्मा, स्वार्थत्यागी, सत्पुरुषों का स्थान नहीं है? असल में ये ही तो वे लोग हैं, जो राजनीति का यह उद्देश्य पूरा कर सकते हैं।

—लेखक

पहला अध्याय

राजनीति का क्षेत्र और स्वरूप

राजनीति राष्ट्रों का जीवन है।

—सुभाषित

राजनीति दुष्टों का खेल है।

—अंगरेजी कहावत

राजनीति वेश्या की तरह बहुरूपिया होती है।

—भर्तृहरि

राजनीति किसे कहते हैं—राजनीति का विचारणीय विषय मनुष्यों का वह संगठन है जिसे राज्य कहते हैं। उसमें बताया जाता है कि राज्य का स्वरूप कैसा होता है, शासक का शासित से या राजा का प्रजा से तथा जनता के एक आदमी का दूसरे आदमी से आपसी सम्बन्ध कैसा है, नागरिकों के क्या अधिकार और कर्तव्य हैं, शासकों को क्या-क्या कार्य किस-किस प्रकार करना चाहिए। राज्य के लिए कौन-कौन सी बातें आवश्यक और उपयोगी हैं, एक राज्य को अपने क्षेत्र में क्या-क्या करना है और दूसरे राज्यों से उसका सम्बन्ध कैसा रहना चाहिए। इस प्रकार राजनीति-ग्रन्थों में राज्यों के शासन, गुण-कर्म स्वभाव आदि का विचार होता है।

स्पष्ट है कि राजनीति का मनुष्य के निजी, व्यक्तिगत या घरेलू जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह किसी मनुष्य के कार्यों का वहां तक ही विचार करती है, जहां तक उस आदमी का दूसरे नागरिकों से सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए कोई आदमी क्या खाता है, किस समय खाता है, कब सोता और कब उठता है, कैसे या कितने कपड़े पहनता है। किसकी और किस समय पूजा पाठ करता है—

इन बातों में राजनीति तब तक हस्तक्षेप नहीं करती, जब तक इन विषयों का सम्बन्ध दूसरे नागरिकों से या राज्य-संगठन से न हो। परन्तु यदि कोई आदमी जहर खाकर मरने का प्रयत्न करे तो इससे राज्य के संगठन को आघात पहुंचता है, इसलिए यह विषय राजनीति के अन्तर्गत माना जायगा। इसी तरह कोई आदमी कपड़ा न पहन कर नंगा ही जनता के सामने आता है और यह बात दूसरे नागरिकों को सभ्यता-विरुद्ध होने से अखरती है तो यह विषय भी राजनीति के अन्दर माना जायगा। ऐसे ही सोने की बात लीजिए। कोई आदमी सड़क या रास्ते पर सोता है, और इससे दूसरे नागरिकों के काम में बाधा होती है, तो यह काम भी राज्य के हस्तक्षेप-योग्य है। फिर, जब कोई आदमी राष्ट्र के दूसरे आदमी से झूठ, कपट या धोखे का व्यवहार करता है, किसी को मारता पीटता है या किसी की हत्या करता है तो स्पष्ट ही उसका यह काम राजनीति के क्षेत्र के अन्दर आता है और राजनियमों के अनुसार दंडनीय होता है।

राजनीति का महत्व—राजनीति को राष्ट्रों का जीवन माना जाता है। बहुत प्राचीन काल से इस का महत्त्व स्वीकार किया जाता रहा है। संस्कृत साहित्य में इसे राजधर्म कहा गया है। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर से इस की प्रशंसा करते हुए कहा है कि "सब धर्मों में राजधर्म प्रधान है। इसी से सब धर्मों का पालन होता है। राजधर्म में ही सब त्याग है और त्याग को सर्वोत्तम और प्राचीन धर्म कहते हैं। राजधर्म में सब त्याग देखे गये और राजधर्म में ही सब दीक्षा कही गयी हैं। सब विद्याएँ राजधर्म में हैं और सब लोकों का उसमें समावेश है"। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने राजनीति को सब शास्त्रों में प्रधान बताया है। आचार्य कौटल्य ने इसे दंडनीति कहा है, और उसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि 'इससे न मिली हुई वस्तु मिलती है, मिली हुई की रक्षा होती है, और रक्षित वस्तु की वृद्धि होती है। संसार का निर्वाह इसी के सहारे होता है।'

मध्यकालीन तथा आधुनिक अनेक लेखकों ने राजनीति का बहुत गुणगान किया है। कितनों ही ने इसे अन्य शास्त्रों से श्रेष्ठ बताया है। उन्होंने इसे सभ्यता की कसौटी तथा उसकी रक्षा का एकमात्र साधन माना है। उनका कथन है कि हमारे सामाजिक संगठन में इसका स्थान शरीर में प्राण की तरह है। हमारे जीवन का सुख दुःख इसके अच्छे या बुरे होने पर निर्भर है। अगर राजनीति

ठीक है तो हमारी जीवन-यात्रा अच्छी तरह हो जायगी। राजनीति दूषित होने की दशा में हमारी जीवन-नौका गहरे दलदल में फंसे के समान होगी। देश में भुखमरी, कंगाली, महामारी छा जायगी और जनता भीतरी अशान्ति और बाहरी संघर्ष का शिकार हो सकती है।

कुटिल राजनीति—राजनीति का अर्थ है राजा या राज्य की नीति। राजनीति में नैतिकता का समावेश कम ही रहा। यहां तक कि कुछ शास्त्रकारों ने सोचा कि शासक या राजा अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए अनेक भले-बुरे काम करते हैं तो उन्होंने राजाओं के व्यवहार में आने वाली अनीतिमय बातों को भी राजनीति का अंग ठहरा दिया। इस प्रकार उन्होंने राजनीति के दो भेद ही कर दिये—(१) साधारण या सरल और (२) कुटिल। कहा गया कि जब साधारण राजनीति से काम न चलें तो कुटिल का उपयोग करना चाहिए। दूसरे ग्रन्थकारों ने राजनीति के इस प्रकार दो जुदा-जुदा भेद नहीं किये। उन्होंने राज्य-शासन में किये जाने वाले (नैतिक दृष्टि से) निन्दनीय कामों को भी (साधारण) राजनीति में स्थान दिया और इसका विस्तार से वर्णन किया।

भारत में—भारतीय साहित्य में राजनीति के कुटिल रूप का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। महाभारत में इसकी उपेक्षा नहीं की गयी है। धृतराष्ट्र के मंत्री कणिक के नाम से जो नीति प्रचलित है, उसके अनुसार 'शत्रु तीन प्रकार के होते हैं—दुर्बल, समान और बलवान। दुर्बल पर सदैव शस्त्र उठाये रहना चाहिए। समान शत्रु पर अपने बल की वृद्धि कर आक्रमण करना चाहिए। बलवान शत्रु के छिद्र को देखकर और भेद उत्पन्न करके नाश करना चाहिए। शरण में आये हुए शत्रु को मार डालना बेहतर है। समय अपने प्रतिकूल हो तो शत्रु को सिर पर भी बैठा ले, परन्तु अनुकूल समय आते ही उसे सिर को मटके की तरह जमीन पर पटक कर चूरचूर कर डाले। पुत्र, मित्र, माता, पिता आदि यदि बैर करें तो उनका बध करना हितकर है। जिसे मारना हो, उसके घर में आग लगा देनी चाहिए।' यद्यपि महाभारत को धर्मयुद्ध कहा गया है, उसमें छल-कपट, ईर्ष्या, अहंकार, और कुटिल व्यवहार की बातों का यथेष्ट समावेश है।

साधारण भारतीय जनता में कुटिल राजनीति के प्रणेताओं में चाणक्य खूब प्रसिद्ध है। कौटल्य भी उसी का नाम माना जाता है। उसका अर्थशास्त्र

अपने विषय का महान् ग्रन्थ है। इसमें राजा के लिये शासन विधि का उपदेश है। ग्रन्थ मे दूसरी बातों के साथ इस बात का भी खूब विस्तार से वर्णन किया गया है कि शत्रु-पक्ष में किस प्रकार भेद या फूट डाली जाय, किस प्रकार छिप कर उन्हें वध किया जाय, कैसे-कैसे ज़हर दिये जाएँ, तंत्र-मंत्रों का कैसे उपयोग हो। निदान, शत्रु को पराजित करने का जो भी उपाय सूझा, उसका स्पष्ट विचार किया गया है, किसी बात को केवल अनीतिमय समझ कर छोड़ नहीं दिया गया। युद्धों में रात्रि-युद्ध और कूट-युद्ध (कपट पूर्वक होने वाले युद्ध) का वर्णन किया है। यह अंग्रेजी की उस कहावत की खासी व्याख्या है, जिसमें कहा गया है कि 'युद्ध (और प्रेम) में कोई भी काम करना अनुचित नहीं है।'

भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं कि 'चाणक्य-नीति', जो कुटिल नीति का ही दूसरा नाम हो गया है, केवल पुस्तक का विषय नहीं रहा, समय-समय पर उसका खूब उपयोग हुआ है।

यूरोप में—यूरोप में कुटिल राजनीति का स्पष्ट चित्र खासकर इटली के दार्शनिक मेक्याविली की रचनाओं में मिलता है। उसकी 'राजकुमार' ('दि प्रिन्स') पुस्तक (सन् १५३२ ई०) में इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि यदि सब आदमी चरित्रवान होते तो कुटिल राजनीति की आवश्यकता न होती, पर वे सच्चरित्र नहीं हैं। इसलिए कुटिल राजनीति का व्यवहार अनिवार्य है। राजकुमार को कहे हुए उसके आगे लिखे वाक्योंसे उसके भावों की झांकी मिल जाती है—'आदमी कृतघ्न और चंचल होते हैं। वे खतरों से दूर भागते हैं और स्वार्थ-साधन के लिए उत्सुक रहते हैं। इसलिए तुम्हारे वास्ते इस बात की ओर ध्यान देना अच्छा है कि आदमी तुमसे डरते रहें, बजाय इसके कि वे तुमसे प्रेम करें; पहले डर की व्यवस्था करो, और पीछे यदि सम्भव हो तो प्यार की। तुम्हें यह सीखना है कि तुम अच्छे न हो।'

मेक्यावली राजसत्ता को सर्वथा निरंकुश रखने के पक्ष में हैं; सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म सब उसके लिए बराबर हैं। जनता का अधिकार उसे केवल अपनी सुविधा के अनुसार मान्य या अमान्य है।

वर्तमान राजनीति : 'दुष्टों का खेल'—अंग्रेजी में राजनीति को 'दुष्टों का खेल' (गेम आफ स्काउन्ड्रल्स) कहा जाता है। हमने जब यह कहावत पहले पहल

सुनी तो बड़ी अटपटी लगी। पर ज्यों-ज्यों संसार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों के कारनामें देखे और सुने, हमें इसमें सत्य का अधिकाधिक अंश मालूम होने लगा। यही बात राजनीति को वेश्या की उपमा दी जाने के विषय में है। भर्तृहरि ने जो 'वारांगनैव नृप नीति अनेक रूपा' कहा है, वह असत्य नहीं है।

बड़े-बड़े राष्ट्र-सूत्रधारों के अनेक व्यवहार हमें 'मुंह में राम, बगल में छुरी' की याद दिलाते हैं। उनके लिए यह कहना तो साधारण बात है कि शान्ति चाहते हो तो युद्ध के लिए तैयार रहो। वास्तव में अनेक बार जब वे एक ओर शान्ति और सुलह की बात करते हैं तो दूसरी ओर भीतर ही भीतर अपनी सेना बढ़ाते हैं और आक्रमण करने का मौका ढूंढने की बात सोचा करते हैं। संधि-पत्रों की स्याही सूखने नहीं पाती कि रणभेरी बजने लगती है और तोपों की गर्जना शुरू हो जाती है। शत्रु को सताने और विध्वंस करने के लिए जो भी उपाय उन्हें ठीक जंचता है, उसे काम में लाने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच या लिहाज नहीं होता। मानवता की भावना को भुला कर, वे अमानवीय व्यवहार में ही अधिक से अधिक कुशल होने का परिचय दिया करते हैं।

शासकों का दूसरे राज्य के निवासियों से ही नहीं, अनेक बार अपने ही देश वालों से बड़ा क्रूर व्यवहार होता है। जो उनके दल या वर्ग के हों, जो उनकी हां में हां मिलाने वाले हों, जो उनके सहायक या पीठ ठोकने वाले हों—उनकी बात छोड़दें; देखना यह है कि जो दूसरी पार्टी के हों, जो शासन की खरी और तीखी आलोचना करते हों, उनके प्रति शासक कैसा रुख रखते हैं। अनेक बार सत्ताधारियों ने अपने सहयोगी साथियों को भी उग्र मत-भेद होने या उनसे कुछ अनिष्ट की आशंका होने पर देश-निकाला दे दिया या इस संसार से ही विदा कर दिया। यह ठीक है कि ऐसा करते समय उन्होंने अपने इन विपक्षियों या विरोधियों को देशद्रोही आदि ठहरा दिया; पर इससे अधिकारी दोष-मुक्त नहीं हो जाते।

राजनीति बनाम लोकनीति—स्पष्ट है कि वर्तमान राजनीति में अनेक ऐसी बातों का समावेश होता है जो नैतिकता की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। शासक और राष्ट्र-सूत्रधार राज्य की रक्षा, राज्य के विस्तार और राज्य के विकास आदि की बातें कहते हुए लोगों को युद्धों में मरवाते हैं, और अन्य प्रकार से उनका

दमन करते रहते हैं। समय-समय पर अनेक आदमियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण होता रहता है, उनके विकास की तो बात ही क्या। फिर, वर्तमान राजव्यवस्था में एक पक्ष विशेष का, जिसे बहुमत कहा जाता है, हित होता है, और दूसरे पक्ष की अवहेलना होती है। यह सब का हित नहीं करती। इसमें सर्वोदय या सब की भलाई की बात नहीं।

सर्वसाधारण का, सब का हित करने वाली, किसी का अहित न करने वाली नीति को लोकनीति कहा जाता है। उसकी मुख्य बात यह है कि उसमें किसी पक्ष, वर्ग, दल या समूह आदि के ही हित की बात नहीं होती। उसमें देश, जाति, या रंग आदि की दृष्टि से भी कोई भेदभाव नहीं होता। वह मानवता के भावों के अनुकूल होती है। किसी का शोषण नहीं होता। किसी पर कोई अनुचित दबाव नहीं होता, सब को समान रूप से विकास करने का अवसर मिलता है।

विशेष वक्तव्य—मानवता की भावना से युक्त, अर्थात् सर्वोदय की दृष्टि से राजव्यवस्था का खुलासा विचार आगे किया जायगा। पहले यह जान लें कि वर्तमान काल में जो शासनपद्धति बहुत से उन्नत कहे जाने वाले देशों में प्रच-लित है, और जिसे भारत में भी, इसके स्वतंत्र होने पर अपनाया गया है, उसमें अर्थात् आधुनिक लोकतंत्र में क्या न्यूनताएँ या दोष हैं।

दूसरा अध्याय

आधुनिक लोकतंत्र

(पार्लिमेंट के) सदस्य बिना सोचे विचारे अपनी पार्टी की तरफ अपना मत देते हैं। तथाकथित अनुशासन उन्हें इसके लिये मजबूर करता है। पार्लिमेंट राष्ट्र के लिये सचमुच एक खिलौना है, जिस पर उसका बहुत पैसा खर्च हो जाता है। बड़े-बड़े विचारवान अंगरेजों के भी यही विचार हैं।

—गांधी जी

विचार-विनिमय द्वारा राज्य संचालन की मौलिक लोकतांत्रिक भावना आज के लोकतांत्रिक देशों में कहीं भी नहीं पायी जाती।

—ग० वा० मावलंकर

जनतंत्र की जो पद्धति आज चालू है जिसमें दो पक्षों का होना अनिवार्य सा बन गया है—एक पक्ष सत्ता का संचालन करने वाला, और दूसरा उसका विरोधी। यह पक्ष या दल पर आधारित पद्धति जनतंत्र की जड़ को खोखली करने वाली है।

—पूर्णचन्द्र जैन

इस अध्याय में हमें वर्तमान लोकतंत्र पद्धति का विचार करना है। उसके साथ राजतंत्र तथा अधिनायक तंत्र की भी कुछ चर्चा आवश्यक है।

राजतंत्र: 'राजा कालस्य कारणम्'—प्राचीन काल में समाज या राज्य के संचालन में राजा का विशेष भाग था। महाभारत आदि कई ग्रन्थों के रचयिताओं का मत है कि मनुष्य जाति के इतिहास में किसी समय बहुत अव्यवस्था रही। तब लोगों को यह बहुत ही आवश्यक जान पड़ा कि राजा के रूप में कोई व्यक्ति ऐसा हो जो सब को नियम पूर्वक रखे और समाज में सुव्यवस्था स्थापित करे। इस तरह 'राजा' पद का निर्माण हुआ। सब उसकी आज्ञा शिरोधार्य

करते थे। शासन शक्ति उसमें केन्द्रित रहती थी। कितने ही राजाओं नें अपने विशेष गुणों तथा अनुभवों से जनता का बड़ा हित किया। धीरे-धीरे राजा के सहायक और साथियों की संख्या और बल बढ़ा और वह समाज पर ऐसा हावी हो गया कि लोगों का सुख-दुख तथा लाभ-हानि बहुत कुछ उसके ही व्यवहार पर निर्भर रहने लगी। इसी से कहावत चल पड़ी कि 'राजा कालस्य कारणम्' अर्थात् राजा ही समय को अच्छा या बुरा बनाने वाला होता है।

राजतंत्र (हमारा अभिप्राय: यहां अवैध राजतंत्र से है) बहुत बुरा भी हो सकता है, और अच्छा भी। यदि राजा अच्छा हुआ और उसके द्वारा शासन-कार्य लोकहित की दृष्टि से संचालित हुआ तो भी जिन लोगों पर शासन होता है, उनमें से अधिकांश का उस शासन में कुछ विशेष भाग न होने से न उनमें राजनीतिक जाग्रति या चेतना होती है, न वे शासन सम्बन्धी कार्य करने की योग्यता या क्षमता प्राप्त कर सकते हैं, और न उनमें अपने उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न होता है। उन्हें एक व्यक्ति (राजा) के या छोटे से समूह वाले कुछ व्यक्तियों के हित के लिए परिश्रम करना होता है। उनका कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं होता, उनका विकास रुका रहता है।

राजतंत्र का ह्रास; लोकतंत्र की बात—क्रमश: शासन-कार्य में जनता के आदमियों ने भाग लेना आरम्भ किया। पहले कुछ खास जातियों, समूहों या वर्गों के थोड़े-थोड़े आदमी आगे आये। पीछे इनकी संख्या और प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रकार अकेला राजा ही शासन का कर्त्ता-धर्त्ता न रहा। उसके अधिकारों का कुछ नियंत्रण होने लगा। धीरे धीरे यह भावना बढ़ने लगी कि राज-काज में सब नागरिकों को भाग लेना चाहिए। इस आदर्श की ओर उत्तरोत्तर प्रगति होती गयी। आरम्भ में दासों या स्त्रियों को नागरिक अधिकार नहीं थे। विविध स्थानो में और भी प्रतिबन्ध रहे। तथापि यह विचार फैलता रहा कि शासन कार्य में समस्त जनता को भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। जब सब आदमियों को उसमें भाग लेने में असुविधा हुई तो वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा काम चलाने लगे। निदान, राजप्रबन्ध में राजा का स्थान नहीं रहा, और यदि रहा तो विशेष प्रभावशाली न रहा। उसके अधिकार बहुत सीमित कर दिये गये, उसे जन-प्रतिनिधि कहे जाने वाले व्यक्तियों की सम्मति के अनुसार

चलने वाला बना लिया गया। इस प्रकार जनता का सुख दुख या लाभ हानि अब राजा पर निर्भर न रह कर स्वयं 'जनता' (या उसके प्रतिनिधियों) पर निर्भर रहने लगा। अतः 'राजा कालस्य कारणम्' बात अब ठीक नहीं रही।

अधिनायक तंत्र—तीसरे प्रकार की राजव्यवस्था वह है जो रूस में जन-क्रांति के बाद आरम्भ हुई। यह लोकतंत्र का ही एक रूप कहा जाता है, और रूसी शासन के सूत्रधार इसे ही लोकतंत्र का सर्वोत्तम रूप मानते हैं। इसके सिद्धान्त पश्चिमी यूरोप में प्रचलित लोकतंत्र से अधिक आकर्षक थे। कई बातों में रूस ने इस राजव्यवस्था से गजब की उन्नति कर दिखायी और वह संसार की प्रमुख शक्तियों से टक्कर लेने वाला बन गया। परन्तु यह भी अनुभव में आया कि इस प्रणाली में दल विशेष की सत्ता इतनी बढ़ी-चढ़ी रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति को जो अपनी कुशल चाहता है, उसके अधिनायक की इच्छा अनुसार ही सब कार्य करना चाहिए। उसमें जरा भी मत-स्वातंत्र्य की गुंजायश नहीं। शिक्षा कैसी हो, सामान क्या बनाया जाए, स्वास्थ्य की व्यवस्था कैसी हो, भेष-भूषा कैसी हो, सब बातों की नीति दल विशेष निर्धारित करेगा। जनता का काम है कि आंख मींच कर, बिना कुछ तर्क वितर्क किये उस पर अमल करें। उसे केवल यंत्र के पुर्जे की तरह चलना है, किसी चेतन व्यक्ति की तरह नहीं।

लोकतंत्र का कुछ विशेष विचार—आधुनिक काल में अवैध राजतंत्र का तो बहुत कुछ लोप हो गया; यह कुछ थोड़े से पिछड़े हुए देशों में ही रह गया है। अधिनायक तंत्र को भी आशंका की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार लोक-तंत्र ही विशेष आकर्षण का विषय है। पश्चिमी यूरोप और अमरीका में इसी का चलन है। कई अन्य राष्ट्रों की भी प्रवृत्ति इसकी ओर है। भारत ने भी स्वतंत्र होने पर अपना संविधान बनाते समय इसे ही अपनाया है। इसलिए इसके सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

लोकतंत्र का अर्थ है, जनता का राज्य—शासन सत्ता समस्त जनता के हाथ में हो, जनता इस अधिकार का उपयोग अपने प्रतिनिधियों द्वारा करे, शासन कार्य जनता की इच्छानुसार हो, उसे सुख शान्ति और विकास का यथेष्ठ अवसर मिले। जनता से मतलब यहाँ पूरी जनता से है, उसके किसी वर्ग, जाति या दल से नहीं; चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो। समाज में अधिक से अधिक

आर्थिक समता हो, गरीब-अमीर का या मालिक मजदूर का अथवा ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो, सिद्धान्त में भी न हो, और व्यवहार में भी न हो। मनुष्य-मनुष्य में विभाजक रेखा न हो। लोकतंत्र कहने से ऐसी राजव्यवस्था से अभिप्राय होता है जिसमें सब लोगों को मत देने का अधिकार हो, अर्थात् जहाँ बालिग मताधिकार हो, आदमी मत देने के लिए अपनी राजनैतिक पार्टी बना सकें, और बहुमत प्राप्त करने वाली पार्टी सरकार (मंत्रिमंडल) का संगठन कर सके। शासन-कार्य बहुमत के अनुसार हो, और लोगों को निर्धारित नियमों के अनुसार लिखने, बोलने, सभा करने आदि की स्वतंत्रता हो।

लोकतंत्री राज्यों की दशा और व्यवहार—वर्तमान अवस्था में लोकतंत्र का आगमन राजतंत्र या सामंतशाही के दोषों को दूर करने के लिए हुआ था। इसके प्रवर्तकों का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था स्थापित करना था, जिसमें ऐसा कोई विकार न हो जिनसे समाज इससे पहले पीड़ित था। इस पद्धति का विशेष विकास पश्चिमी यूरोप में हुआ : यहां इंगलैड आदि ने औद्योगिक क्रान्ति, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के सहारे खूब भौतिक उन्नति की। इन देशों में जीवन के सुख सुविधाओं के अनेक साधन हैं, और ये खासकर एशिया निवासियों की दृष्टि में बहुत सभ्य और आगे बढ़े हुए माने जाते हैं। इनके भोजन-वस्त्र, मकान, क्रीड़ा क्षेत्र तथा मनोरंजन के सामान देखते ही बनते हैं। परन्तु इन देशों में अमीरी-गरीबी का और ऊंच नीच का बड़ा भेद है। नीचे दर्जे वाले व्यक्ति ऊंची हैसियत वालों के समान न्याय, शिक्षा और मान-प्रतिष्ठा नहीं पा सकते। वे असंतोष, ईर्ष्या और वेदना अनुभव करते रहते हैं।

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ तक ये राज्य संसार भर में अपनी धाक जमाने में लगे रहे, इन्होंने अधिक से अधिक देशों को प्रलोभन देकर या भय दिखा कर अपने अधीन या प्रभाव में कर लिया। खासकर दूसरे महायुद्ध के बाद परिस्थिति कुछ बदल गयी है, तो भी संसार में भय, आक्रमण या युद्ध की आशंका बढ़ाने में इनका बड़ा हाथ है।

आधुनिक लोकतंत्र के दोष; भ्रष्ट निर्वाचन-पद्धति—स्पष्ट है कि आधुनिक लोकतंत्र अपना उद्देश्य पूरा करने में सफल नहीं हो रहा है। अब हम

इसके उन मुख्य दोषों या न्यूनताओं का विचार करें, जिनके कारण यह वास्तव में लोक-तंत्र नहीं रहता। पहले इसकी निर्वाचन-पद्धति को लीजिए।

लोकतंत्र का अर्थ है जनता का राज्य। पर राज्य-संचालन के लिए कानून बनाने आदि में सारी जनता भाग नहीं ले सकती। खासकर जब राज्य का क्षेत्र लाखों वर्गमील और जनसंख्या करोड़ों आदमियों की हो। इसलिए यह माना जाता है कि जनता की ओर से कुछ चुने हुए आदमी या प्रतिनिधि यह कार्य करें। इस प्रकार लोकतंत्र में चुनाव का महत्व स्पष्ट है; इसे लोकतंत्र की आधारशिला कहा जा सकता है।

लोकतंत्र में ऐसा महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले निर्वाचन की वर्तमान पद्धति के दोषों के विस्तार में न जाकर यहां यही कहना है कि इसमें इतना खर्च होता है कि प्रायः साधारण भले आदमी का, उम्मेदवार बनने या चुनाव में खड़े होने का साहस ही नहीं होता। दूसरे आदमियों या संस्थाओं से आर्थिक सहायता लेकर खड़े होने वाले उम्मेदवार आगे पीछे उन्हें किसी न किसी तरह लाभ पहुचाने की कोशिश करते हैं, इससे तनातनी और भ्रष्टाचार फैलता है। इसके अलावा, चुनाव के समय धोखेधड़ी, चापलूसी, संकीर्णता और हिन्सा के भावों की वृद्धि होने से वातावरण बहुत बिगड़ जाता है, और यदि कुछ समय बाद उसमें कुछ सुधार होने लगता है तो फिर नये निर्वाचन का अवसर आने से नये विवाद भेद-भाव और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार लोकतंत्र की नींव ही खोखली हो जाती है।

आधुनिक लोकतंत्र सब के लिए हितकारी नहीं होता—वर्तमान लोक-तंत्र में बहुमत का शासन होता है। स्पष्ट है कि बहुमत का शासन वास्तव में लोक-तंत्र नहीं होता, क्योंकि इसमें अनेक आदमी ऐसे होंगे—चाहे उनका एक दल हो, या कई छोटे छोटे दल हों, अथवा वे किसी दल में संगठित न होकर स्वतंत्र हों—जो अल्पमत में होने के कारण कानून-निर्माण या राज्य-संचालन में उपेक्षित रहते हैं। अनेक बार उनकी बात सही होने पर भी मान्य नहीं होती। इस प्रकार आधुनिक लोकतंत्र सर्वजनहिताय या सर्वजनसुखाय नहीं होता।

दलबन्दी और नैतिक पतन—वर्तमान लोकतंत्र का दलबन्दी के साथ अटूट सम्बन्ध है। विरोधी दल तो अनिवार्य ही माना जाता है। यदि कहीं

लोकतंत्री सरकार हो और दो या अधिक दल न हों तो शासन एकदलीय हो जाता है, और एकदलीय शासन में तानाशाही हो जाती है। इस प्रकार वर्तमान लोकतंत्री शासन में दलों का होना ऐसा ही आवश्यक समझा जाता है, जैसा शरीर के लिए प्राण। लोकतंत्री व्यवस्था में दलों के महत्व का अनुमान इस बात से हो सकता है कि इंगलैंड आदि कुछ देशों में इसके नेता को सरकार द्वारा वेतन दिया जाता है।

दलबन्दी में नैतिक पतन अनिवार्य है। अपने-अपने दल को मजबूत बनाने के लिए तरह-तरह की चालें चली जाती हैं। दूसरे दल के आदमी को अपने दल में मिलाने के लिए साम-दाम-दंड-भेद सभी भले-बुरे उपायों से काम लिया जाता है। दल के प्रत्येक सदस्य के लिए यह जरूरी होता है कि वह अपने दल के नेता की हाँ में हाँ मिलाये। उसे अपने दल द्वारा उपस्थित प्रस्ताव तथा संशोधन आदि का समर्थन करना होता है, चाहे उसकी आत्मा ऐसा करना उचित न भी समझे। इस प्रकार जब विरोधी दल किसी सरकारी प्रस्ताव का विरोध करता है तो उसके सब सदस्य बिना कुछ सोचे-विचारे इस विरोध में उसका साथ देते हैं— यह जानते हुए भी कि विरोध करना अनुचित है और जो बातें विरोध में कही जा रही हैं, वे सत्य या तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरतीं। इसी प्रकार सरकार अर्थात् बहुमत दल भी अनेक बार विरोधी दल की बातों की उपेक्षा करता है और उसके प्रस्तावों को यथा-सम्भव पास नहीं होने देता, चाहे वे प्रस्ताव बहुत ही उपयोगी क्यों न हों।

कुछ दल तो ऐसे होते हैं कि उनके सामने राज्य के उत्थान के लिए कोई खास कार्यक्रम नहीं होता, वे क्षुद्र साम्प्रदायिक या अन्य आधार पर बन जाते हैं और अपनी तथा दूसरों की शक्ति और समय नष्ट किया करते हैं। अस्तु, दलों के निर्माण में, इनकी शक्ति बनायी रखने तथा बढ़ाने में, और इनकी कार्य प्रणाली में पद-पद पर व्यक्तियों का नैतिक तथा चारित्रिक ह्रास होता है।

आधुनिक लोकतंत्र में दल-पद्धति अनिवार्य है, और इससे उसका उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। श्री एम० एन० राय का कथन है —'यद्यपि लोकतंत्र का घोषित ध्येय है जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए शासन स्थापित करना; परन्तु दल-पद्धति के कारण जनता का और जनता के द्वारा शासन तो

बनाया ही नहीं जा सकता। दलीय शासन अधिक से अधिक लोकतंत्र की तीसरी शर्त (जनता के लिए) पूरी करता है। यदि यही बात है तो 'उदार निरंकुशता' को ही सर्वश्रेष्ठ लोकतंत्र समझा जाना चाहिए क्योंकि वह भी आखिरकार जनता के लिए ही होता है। अतः इस युग के दलीय शासन लोकतंत्र-पूर्व युग के शासनों से उत्तम नहीं कहला सकते। अन्तर यही रहता है कि उस काल के लोग अपने राजाओं को चुन नहीं सकते थे, जब कि आज दल, बालिग मताधिकार के आधार पर, सत्तारूढ हो जाते हैं।·········· लोकतंत्र के समस्त इतिहास में जनता की ओर से सत्तारूढ़ होकर तथा जनता के ही वास्तविक नियंत्रण में रह कर शासन करने का उदाहरण किसी भी दल ने प्रस्तुत नहीं किया है। दल-पद्धति के ही कारण लोकतंत्र ने समाज को तानाशाही शासन भी दिये हैं। ९० प्रतिशत जनमत के आधार पर हिटलर शासनारूढ़ हुआ था।[१]

हानिकारक वाद-विवाद—वर्तमान लोकतंत्र में (केन्द्रीय) संसद तथा राज्यों के विधान-मंडलों में सैकड़ों सदस्य होते हैं। अनेक आदमी बोलने की इच्छा रखते हैं। यदि कोई सदस्य वहाँ भाषण नहीं करता (या प्रश्न नहीं पूछता) तो वह निर्वाचकों की निगाह में गिर जाता है। वे कहने लगते हैं कि ऐसे आदमी को चुनने से कोई लाभ नहीं, जो वहाँ जाकर चुपचाप बैठा रहता है। इसलिए सभी सदस्यों को, और कुछ नहीं तो विधान-सभा में अपनी उपयोगिता सिद्ध करने और अपना अस्तित्व प्रकट करने के लिए बोलने और सवाल पूछने की प्रेरणा होती है। प्रायः सदस्य अपने विषय का यथेष्ट अध्ययन और मनन करने का कष्ट नहीं उठाते और अपने भाषण में अनावश्यक या अप्रासंगिक, व्यंगात्मक निन्दा-स्तुति या हँसी-मसखरी आदि की बातें कहा करते हैं। इस पर उन्हें अध्यक्ष द्वारा रोका जाता है। तो भी कुछ सदस्यों की ऐसी हरकतें बारबार होती हैं। इससे सैकड़ों सदस्यों का थोड़ा-थोड़ा करके भी बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है।

सदस्यों के अनावश्यक भाषण और प्रश्न जनता के लिए कितने महंगे पड़ते हैं, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि कुछ समय हुआ

---

[१] **'पांचजन्य', राजनीति अंक**

भारतीय संसद का खर्च ८०) रु० प्रति मिनट बताया गया था। यदि एक दिन में सब सदस्यों के वाद-विवाद आदि में नष्ट हुआ समय एक घंटा भी हो तो भारतीय करदाताओं का भार उस एक दिन के लिए ही लगभग पाँच हजार रु० बढ़ जाता है। यह तो अकेली संसद की बात हुई। भारत के विविध राज्यों के २२ विधान-मंडल और हैं। इनका भी विचार कीजिए; और, साल भर में होने वाले सब अधिवेशनों का हिसाब लगाइए। कितना अपव्यय होता है!

भयंकर व्यय-भार—लोकतन्त्र में (केन्द्रीय) संसद और राज्यों के विधान मंडलों में से प्रत्येक के सैकड़ों सदस्य होते हैं, जिनको नियमित वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है। अनेक मंत्री, उपमंत्री, सचिव आदि कितने ही कर्मचारी रहते हैं। फिर, राष्ट्रपति तथा विविध राज्यपाल और अन्य अधिकारी तथा उनके सेवक आदि होते हैं। इन्हें वेतन और भत्ता आदि मिलने के अतिरिक्त उच्च पदाधिकारियों की शान-शौकत, ठाट-बाट और सुविधाओं आदि में खूब खर्च होता है। इस प्रकार लोकतंत्र के साज-शृंगार मे होने वाले कुल खर्च का क्या पूछना! आश्चर्य तो यह है कि अल्पव्ययी प्रशासन के प्रशंसक भी सत्तारूढ़ होने पर प्रायः इस व्यय को घटाने की बात नहीं सोचते। बहुत से सदस्य तो अपनी वेतन आदि बढाने के प्रस्ताव करते रहते हैं, और विधान सभा में इनका बहुमत होने से सफल भी हो जाते है।

लोकतंत्र पद्धति में मंत्रियों के वेतन और भत्ते आदि का खर्च तो बहुत होता ही है। इसके साथ कभी-कभी मंत्रियों आदि की संख्या में भी अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। बहुधा देखने में आता है कि शासन कार्य साधारणतया जैसा चला करता है, चल रहा है, पर अचानक सूचना मिलती है कि कुछ नये मंत्रियों या उपमंत्रियों की नियुक्ति होने वाली है। ऐसी नियुक्ति का रहस्य यह होता है कि मंत्रियों आदि की संख्या काम के अनुपात से न होकर दलबन्दी और विविध दलों पर प्रभाव रखने वालों के अनुपात से होती है। इस प्रकार दल की शक्ति बढ़ाने या दल के सदस्यों को खुश करने के लिए ही शासन-व्यय बढ़ता रहता है।

संसद आदि आडम्बर मात्र हैं—आधुनिक लोकतंत्रों की व्यवस्था में सब मुख्य प्रश्नों का विचार तो पहले से ही पार्टी की सभाओं में, पार्टी के हित की दृष्टि

से कर लिया जाता है। उन्हें संसद में उपस्थित करना, उन पर भाषण देना और विरोधी दल के सदस्यों के भाषण होने देना यह सब औपचारिक है। संसद के सदस्यों की संख्या सैकड़ों की होने पर भी वास्तविक विचार-विनिमय करने वाले पार्टी के इने गिने सदस्य ही होते हैं। पार्टी के अन्य सदस्यों का उपयोग केवल मत देने के समय होता है। और, मत वे सरकार के ही पक्ष में देते हैं। यदि कोई अपने मत-स्वातंत्र्य का परिचय दे और सरकारी मत का विरोध करे तो उस पर अनुशासन रूपी तलवार का प्रहार होना निश्चित समझिए। ऐसी स्थिति में आधुनिक लोकतंत्र में संसद और विधान-सभाओं का क्या मूल्य है?

कल्याणकारी राज्य होने का दावा—कुछ लोकतंत्री राज्य कल्याणकारी या लोकहितकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) होने का दावा करते हैं। उनमें सरकार जनता के जीवन की अधिक से अधिक बातों का नियोजन करती है और उस व्यवस्था को कड़ाई से चलाती है। इसमें जनता शासनतंत्र के और भी अधिक अधीन हो जाती है; एक प्रकार से राज्य की तानाशाही चलती है। ऐसी व्यवस्था कदापि अपनाने या अनुकरण करने योग्य नहीं समझी जानी चाहिए। स्वर्गीय श्री किशोरीलाल मश्रूवाला ने इस के संबंध में श्री रा० कृ० पटेल को लिखे हुए पत्र में कहा था कि 'लोकहितकारी राज्य की कल्पना के अनुसार व्यक्ति की जन्म से मरण तक ही नहीं, गर्भ से अन्त्य विधि तक की हर आवश्यकता के लिए राज्य को उत्तरदायी बनाया जा रहा है। ····यदि हम युद्ध, हिंसा-पूर्ण क्रांतियां, और फासिस्ट (व्यक्तिनिष्ठ पूंजीवादी) और बोल्शेविक (राज्यनिष्ठ पूंजीवादी) दोनों तरह की डिक्टेटरशाही टालना चाहते हैं तो भारत को लोकहितकारी राज्य का ऐसा आदर्श छोड देना चाहिए।'[१]

विशेष वक्तव्य—प्रत्येक देश के आदमी गम्भीरता और स्वतत्रंता से विचार करें कि हमारी राजव्यवस्था कैसी होनी चाहिए। सर्वोदय के महान आचार्य गांधी जी के देश भारत का तो खास तौर से यह कर्तव्य है कि वह इस दिशा में आगे बढ़े और संसार के सामने सर्वोदय मूलक राजव्यवस्था का क्रियात्मक उदाहरण उपस्थित करें।

---

[१] 'हरिजनसेवक', २७ दिसम्बर १९५३

तीसरा अध्याय

राजनीति में गांधी जी की देन

मेरे नजदीक धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। धर्म के मानी वहमों और गतानुगतिकत्व का धर्म नहीं है, द्वेष करने वाला और लड़ने वाला धर्म नहीं, बल्कि विश्वव्यापी सहिष्णुता का धर्म। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।

—गांधी जी

आधुनिक युग में गांधी जी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिन्होंने अहिंसात्मक प्रतिरोध के सिद्धान्त को विकसित किया है, संगठित सामूहिक रूप से बड़े आन्दोलनों में उसका प्रयोग किया है, और अनेक कठिन परिस्थितियों में भी वास्तविक सफल लड़ाइयां लड़ कर इस सिद्धान्त के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया है।

—रिचर्ड वी० ग्रेग

दुनिया के राष्ट्रों का असली लक्ष्य अपनी-अपनी अलग-अलग आजादी नहीं है। हमारा सभी का लक्ष्य है अपनी इच्छा से सब का एक दूसरे पर निर्भर होना। मैं अद्वैत का मानने वाला हूँ। मैं सब इन्सानों की बुनियादी एकता बल्कि सब जानदरों की एकता को मानता हूँ। मैं मानता हूँ कि अगर एक आदमी रूहानी तौर पर ऊपर उठता है तो सारी दुनिया उसके साथ उठती है और अगर एक आदमी गिरता है तो उस दर्जे तक सारी दुनिया गिरती है।

—गांधी जी

इस अध्याय में हम गांधीजी की तीन बातों का विचार करेंगे—राजनीति में नैतिकता, राजनैतिक बुराइयों का प्रतिकार और सर्वजनहिताय नीति।

[१]

राजनीति में नैतिकता

राजनीति और नीति का मेल—इस विषय पर बड़ा मतभेद रहा है कि राजनीति का नीति अर्थात् नैतिकता से क्या सम्बन्ध है। नीति हमें बताती है कि कौनसा काम अच्छा है, और कौनसा बुरा, वह हमें बुराइयों से बचने और भले कार्य करने का आदेश देती है। साधारण तौर से यही विचार होता है कि नीति चाहे शासन की हो या व्यापार आदि किसी अन्य विषय की, उसके व्यवहार में नैतिकता होनी चाहिए ; उसमें सत्य, सेवा, अहिंसा की भावना रहनी चाहिए।

प्राचीन तथा अर्वाचीन कितने ही लेखकों ने कहा है कि राज्य को चाहिए कि मनुष्यों को सदाचार या सद्व्यवहार करना सिखाए। वे राजनीति को नीति से जुदा नहीं मानते। उनके मत से राजा धर्म का रक्षक है। शुक्राचार्य ने लिखा है—'राजधर्म का मूलसूत्र साधु की रक्षा और असाधु का दमन है। राजा राष्ट्र का सब से बड़ा सेवक है।'

दूसरा पक्ष; राजनीति नीति-विहीन है— अब दूसरे पक्ष की बात लें। कुछ दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों का तो पहले भी यह मत था और अब तो बहुत से ही इस मत के मिलते हैं कि 'राजनीति पर नीति का कुछ प्रतिबन्ध नहीं रहना चाहिए। नीति और राजनीति का एक दूसरे के विरुद्ध होना स्वाभाविक है। शासकों को राजकार्य चलाने के लिए अनेक बुरे भले काम करने होते हैं ; अगर वे बात-बात में नीति के चक्कर में पड़ा करें तो राजकार्य चल ही नहीं सकता। दार्शनिकों या धर्माचार्यों द्वारा शासन का संचालन होना निरी कल्पना है। हर समय नीति या नैतिकता का ध्यान रखकर राज करना अव्यवहारिक है। राजनीति साधुओं के लिए नहीं। इस क्षेत्र में चतुर चालाक, धूर्त, चालबाज आदमियों को ही सफलता मिल सकती है।'

दूसरे पक्ष वालों की प्रबलता और इसका दुष्परिणाम—यह निर्विवाद है कि संसार में दूसरे पक्ष वालों की ही भरमार है। पहले पक्षवाले तो नगण्य से रहे हैं। उनकी बात कहने भर को रह गई, अमल में राजनीति और नीति अर्थात् नैतिकता ही अलग-अलग चीजे हैं। दोनों का व्यवहार एक दूसरेका विरोधी है। नीति सिखाती

है कि मनुष्य एक-दूसरे से प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करे। हम सब को अपना भाई बहन समझें और दूसरों के दुख-सुख में काम आवें, उनकी भरसक सेवा तथा सहायता करें। पर प्राय: राजनीति ऐसी बातों से दूर रहती है; राजनीति में पड़कर आदमी आदमी से लड़ता है, दूसरी जाति या वर्ण या रंग वालों से ही नहीं, स्वयं अपनी जाति और अपने गांव या नगर के आदमियों से भी। जब कि नीति विश्व-बंधुत्व का, सब आदमियों के भाईचारे का या प्राणीमात्र से प्रेम का आदर्श उपस्थित करती है, राजनीति तो जुदा-जुदा देशों को लड़ाती ही रहती है। और अब तो हरदम महायुद्ध या विश्व-युद्ध की आशंका बनी रहती है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि संसार में बहुत समय से राजनीति का प्राय: कुटिल रूप प्रचलित है। जो शासन व्यवस्था है वह हिंसा के आधार पर है, और हिंसक उपायों से ही बनी हुई है। पश्चिमी राजनीति के इतिहास में मेक्यावली का नाम प्रसिद्ध है उसका मत था कि शक्ति, ख्याति आदि प्राप्त करने में जो व्यक्ति सफल हो जाय वही अच्छा है फिर चाहे उसने सफलता प्राप्त करने के लिए चाहे जैसे साधनों या उपायों का उपयोग किया हो। उसकी दृष्टि में कोई भी साधन निश्चित रूप से अनैतिक नहीं, जो भी साधन सफलता प्राप्त करने में सहायक हो वही नैतिक बन जाता है। उसका स्पष्ट मत था कि संकट के समय राज्य की रक्षा के लिए आदमी को दया-निर्दयता, न्याय-अन्याय, सच-झूठ के विचार के चक्कर में न पड़ना चाहिए। उसे तो जैसे-भी-बने लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह की खरी बातें दूसरों ने चाहे कम कही हों या न भी कही हों, आचरण में तो बारबार आती रहीं। इसलिए कौंसिलों में, अदालतों में, राजकीय घोषणाओं में, चुनाओं में, पद-प्रतिष्ठा पाने में ——जहां देखो कूटनीति और धूर्तता का बोलबाला मिलता है। राजपुरुषों में किसी को दूसरे का विश्वास नहीं; कोई संधि-पत्र कब तक दो राज्यों में मेल करा सकेगा, इसका किसी को भरोसा नहीं। राजनीति में मित्रता, सहयोग आदि सब क्षण-भंगुर हैं।

गांधीजी की दृष्टि; सत्य की साधना——ऐसी परिस्थिति में गांधीजी का आगमन राजनीति के इतिहास में एक महान घटना है। उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था पर उनकी आध्यात्मिकता प्राणी-मात्र से प्रेम करने, उनके कष्ट दूर करने और लोकसेवा का जीवन बिताने में थी। ईश्वर का दर्शन सत्य का दर्शन करना था।

वे अपने आपको सत्य का शोधक मानते थे। अपनी आत्मकथा को उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' नाम दिया है।

गांधीजी ने कहा है कि 'सर्वव्यापी और नित्य सत्य के साक्षात दर्शन करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य ईश्वर की सृष्टि के छोटे से छोटे प्राणी से प्रेम करे, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि वह अपने आपसे करता है, और जो मनुष्य इस बात का प्रयत्न करता है, वह जीवन के किसी क्षेत्र से अपने आपको पृथक् नहीं कर सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य की साधना ने मुझे राजनीति के क्षेत्र में ला खड़ा किया।' इसी प्रकार 'संसार के मिट जाने वाले राज्य की मुझे कोई इच्छा नहीं है। मैं तो स्वर्ग के राज्य के लिए प्रयत्नशील हूं, जिसका दूसरा नाम आध्यात्मिक मुक्ति है। मेरे लिये मुक्ति का मार्ग मेरे देश और मनुष्य जाति की निरंतर सेवा का मार्ग है। प्रत्येक प्राणी के साथ मैं आत्मसात् होना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में, मैं मित्र और शत्रु दोनों ही के साथ शान्ति पूर्वक रहना चाहता हूँ। अस्तु, मेरी देश-भक्ति अनन्त स्वतंत्रता और शान्ति की भूमि की ओर मेरी यात्रा में एक अवस्था मात्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मेरे लिए धर्म से पृथक कोई राजनीति नहीं है। राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।'

राजनीति और धर्म का अटूट सम्बन्ध—इस प्रकार गांधीजी राजनीति में धर्म अथवा सत्य का समावेश करते थे। उनकी यह बात अधिकांश पश्चिमी लोगों को ही नहीं, अनेक भारतीय विचारकों को भी बहुत अटपटी लगी। पर गांधीजी दृढ रहे। जब कि लोकमान्य तिलक का मत था कि राजनीति साधुओं का खेल नहीं है, गांधीजी ने कहा कि 'राजनीति साधुओं का और केवल साधुओं का काम है। साधुओं से मेरा मतलब इस शब्द से सूचित अच्छे से अच्छे व्यक्ति से है।' इसी प्रकार जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा कि 'धर्म की इस महान निधि को राजनीति की इस कमजोर नौका में, जो दलबन्दी की क्रुद्ध लहरों से टकराती रहती है, मत रखो', गांधी जी ने जवाब में लिखा कि 'बिना धर्म के राजनीति एक मुर्दा है, जिसको सिवा जला देने के और कोई उपयोग नहीं हो सकता', स्मरण रहे कि गांधी जी के विचार से 'धर्म का अर्थ कट्टर पन्थ में नहीं है। उसका अर्थ है विश्व की एक नैतिक सुव्यवस्था में श्रद्धा।'

इस बात का युग-परिवर्तनकारी प्रभाव—पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान जगत में राजनीति का विलक्षण दबदबा है, समाज के प्रत्येक कारोबार में राजनीति का दखल है। इसलिए राजनीति के नीति-विहीन होने से मनुष्य का सारा-जीवन-व्यवहार ही अनीतिमय हो जाता है। राजनीति को सज्जनों और साधुओं का काम न माने जाने से भले आदमी इसमें आने से बचते रहते हैं। वे अदालतों से, धारा सभाओं से, और सरकारी पदों से दूर-दूर रहते हैं। यदि राजनीति सुधर जाय, यह नैतिकता युक्त हो जाय तो हमारे सार्वजनिक क्षेत्र की गन्दगी हट जाय। गांधी जी ने इस महान् क्रान्ति का श्रीगणेश कर दिया। उनके विचारों और कार्यों का सुप्रभाव सार्वजनिक जीवन के सभी अंगों पर विलक्षण रूप से पड़ा है।

[२]

राजनैतिक बुराई का अहिन्सक प्रतिकार

ऊपर यह बताया जा चुका है कि गांधी जी ने यह सिद्धान्त अपनाया कि राजनीति नीति युक्त ही होनी चाहिए, बिना नीति की राजनीति सर्वथा त्याज्य है। नीति की बात वास्तव में कोई नयी बात नहीं थी, नयी बात उसके प्रयोग की विधि में है। गांधीजी ने सार्वजनिक तथा सामूहिक क्षेत्र में इसका प्रयोग किया, यहां तक कि राष्ट्रों के घोर विकार को दूर करने में अनीति का आश्रय न लिये जाने का आग्रह किया। गांधीजी के इस विचार की विशेषता को समझने के लिए हम उनसे पहले की स्थिति से उसकी तुलना करें।

गांधी जी से पहले दार्शनिकों की दृष्टि; व्यक्तिगत जीवन-सुधार—प्राचीन दार्शनिकों ने मानव जीवन के विकार दूर करने को खूब महत्व दिया है, इसमें कोई संशय नहीं। परन्तु उनका केन्द्र-बिन्दु प्रायः व्यक्तिगत ही रहा। वे अलग-अलग अपने 'मोक्ष' के प्रयत्नों में लगे रहे। बौद्ध और ईसाई धर्म वालों ने अपना संगठन किया तो उनकी दृष्टि भी सांसारिक नहीं रही। अधिकतर धर्मात्मा लोगों के लिए पारलौकिक विषयों का चिन्तन मनन महत्व का था। वे सोचते थे कि हमारी साधना से यदि दूसरे भाइयों का व्यवहार ठीक न भी हुआ

तो हमें तो उसका फल मिलेगा ही। इस प्रकार वे अपनी आन्तरिक शान्ति से संतोष करते रहे।

गांधीजी द्वारा नैतिक गुणों का समाज-सुधार के लिए उपयोग—गांधी जी की विशेषता यह है कि उन्होंने नैतिक गुणों का उपयोग केवल व्यक्तिगत जीवन के सुधार तक परिमित न रखकर उसे सामाजिक क्षेत्र तक विस्तृत किया। उन्होंने अपनी वाणी से ही नहीं, वरन् इससे बढ़कर अपने आचरण से भी मानव समाज को नयी दृष्टि दी। उन्होंने प्रत्यक्ष दिखा दिया कि जैसे नैतिक गुणों का अभ्यास करके मनुष्य अच्छा सामाजिक व्यवहार करने वाला बन जाता है, उसी प्रकार इन गुणों का उपयोग समाज सुधार के लिए हो सकता है। इसके लिए मनुष्यों को न केवल व्यक्तिगत वरन् सामूहिक प्रयत्न करने की आवश्यकता है। गांधी जी ने लोगों के सामने आश्रम-पद्धति से रहने का आदर्श रखते हुए व्यक्तिगत जीवन के सुधार को काफी महत्व दिया है। तथापि उन्होंने जीवन के सामाजिक पक्ष की अवहेलना नहीं की। उन्होंने बतलाया और दिखलाया कि अहिन्सा और सत्य के सिद्धान्तों को सामूहिक जीवन में सफल बनाने के लिए किस प्रकार वाह्य रूप और आकार देना चाहिए।

श्री जयप्रकाश नारायण ने ठीक ही कहा है कि "जहां दूसरे आध्यात्मिक सुधारकों ने चरित्र-निर्माण और जीवन के उच्चतर मूल्यों की शिक्षा दी, वहाँ गांधीजी ने उनको सर्वसामान्य सामाजिक रूप में अमल में लाने के लिए एक रास्ता खोज निकाला। व्यक्तिगत रास्ता अब भी है और वह बुनियादी रास्ता है। लेकिन यह रास्ता स्वार्थ के बजाय नैतिक सिद्धांतों और विचारों पर आधारित है। नैतिक मूल्यों को व्यापक रूप में व्यवहृत करने की गांधीजी की इस पद्धति में एक ठोस कार्यक्रम निहित है। निश्चित परिस्थितियों में बुराई के प्रति अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धांत पर यह नीति आधारित है व्यक्ति की बुराई के विरुद्ध, न कि व्यक्ति के विरुद्ध।"

अहिन्सक प्रतिकार के रूप; (१) असहयोग—अहिन्सक प्रतिकार का यह आशय नहीं है कि राजनीतिक अत्याचार आदि को देख कर हम निष्क्रिय बैठे रहें। और यह सोचते रहें कि अत्याचारी स्वयं ही सुधर जायगा और दया भाव से प्रेरित होकर अपने दुष्कर्म से बाज आयेगा। इसका व्यवहारिक स्वरूप यह होगा कि

हम अपने स्वार्थ, भेदभाव, भय आदि का त्याग करके अपने विकारों को दूर करते हुए अपना बल बढ़ावें और अपने ऊपर होने वाले अत्याचार को हटाने के लिए संगठित हो जायं। ऐसा होने पर अत्याचारियों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न रखते हुए और उन्हें कोई कष्ट न पहुंचाते हुए उनके अत्याचार का डट कर विरोध करें और उनके द्वारा दिये जाने वाले प्रत्येक प्रलोभन या दंड की उपेक्षा करके उनसे सहयोग न करें। किसी भी दशा में हमें उनकी कुल्हाड़ी का बेंटा नहीं बनना है। स्मरण रहे कि व्यक्तियों से हमारा कोई झगड़ा नहीं है, हमें तो उनकी बुराई करने की शक्ति से असहयोग करना है। इस प्रकार हम न तो उन्हें संकट में डालेंगे और न उनके संकट से लाभ उठायेंगे। उनके साथ हमारा व्यवहार शत्रुता का न होकर स्नेह-पूर्ण ही होगा।

गांधी जी के अनुसार इस विषय के कुछ नियम—"जिन पर हमला किया जाय, उन्हें हमला करने वाले को किसी भी तरह की मदद नहीं करना है, उनका फर्ज है कि उससे पूरी तरह असहयोग करें।"

"हमला करने वाले के आगे न हम घुटने टेकेंगे और न उसके किसी हुक्म की पाबन्दी करेंगे।"

"हम उससे किसी रियायत या इनाम की उम्मीद नहीं करेंगे और न उससे किसी तरह की रिश्वत लेंगे। लेकिन हम उसके लिए दिल में कोई बुरा ख्याल नहीं लाएंगे और न उसकी बुराई चाहेंगे।"

"अगर वह हमारे खेतों पर कब्जा करना चाहता है तो हम उन्हें छोड़ने से इनकार करेंगे चाहे उसका मुकाबला करने में हमें जान ही देनी पड़े।"

"अगर उसे कोई बीमारी हो या वह प्यास से परेशान हो और हमारी मदद चाहता हो तो भी हम इनकार नहीं करेंगे।"

हमारे इस व्यवहार से अत्याचारियों को हम से वह लाभ उठाने का अवसर न रहेगा, जो वह चाहते हैं। दूसरे, इससे उनके मन पर हमारे प्रति कोई दुर्भाव बढने की गुंजाइश न होगी, उलटा वे हमारे सदव्यवहार से प्रभावित होकर अपना आत्म-निरीक्षण करने की स्थिति में आयेंगे। क्रमश: उनका रुख बदलेगा और वे अपना आचरण सुधारने को प्रेरित होंगे। इस प्रकार असहयोग में दृढता और निर्भीकता रखने से अत्याचारी की निराशा और हमारी सफलता निश्चित है।

आचार्य कृपलानी ने कहा है कि 'अतीत काल में चाहे जो अवस्था रही हो, परन्तु आज की दुनिया में अत्याचार-पीड़ित लोगों के इच्छित या अनिच्छित, सज्ञान, अथवा अज्ञान, स्वतंत्र या बाध्य सहयोग से ही उन पर अत्याचार करना सम्भव हो सकता है। यदि पीडित लोग सब प्रकार के सहयोग से इन्कार कर दें और इस इन्कारी के परिणाम स्वरूप जो भी कष्ट सामने आएँ उन्हें भोगने के लिए तैयार हो जाएँ तो अन्याय और अत्याचार अधिक दिन नहीं टिक सकते। औद्योगिक झगड़ों में भी यही देखा जाता है। जब कभी मजदूर प्रभावशाली रूप से अपना सहयोग हटा लेते हैं तभी पूंजीपति को झुक जाना पडता है।..... यदि सहयोग हटा लेने से औद्योगिक झगड़ों मे निश्चित फल निकल सकते हैं तो सत्याग्रह के सम्बन्ध में सन्देह क्यों किया जाय !'[१]

(२) **सत्याग्रह; उद्देश्य और कार्यपद्धत्ति**—सत्याग्रही मानता है; उसे इस बात में जीवित श्रद्धा होती है कि प्रत्येक प्राणी में सत्य अर्थात् ईश्वरीय सत्ता मौजूद है। इसलिए उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतिकार का उद्देश्य यही होना चाहिए कि वह अपने विपक्षी (विरोधी) को उस सत्य का ज्ञान कराए जिसे भूल जाने के कारण वह हिंसा या शोषण आदि करता है। सत्याग्रही का यह कार्य तभी हो सकता है, जब उसके हृदय में अपने विपक्षी के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न होकर यथेष्ट प्रेम और सहानुभूति हो। वह अपना कार्य निरहंकार और निष्काम भाव से करता है, वह इसमें अपने जीवन का विकास मानता है।

स्पष्ट है कि सत्याग्रही का आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे उसके विपक्षी के हृदय में उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास पैदा हो। इसलिए सत्याग्रही के मन में यह कभी विचार ही नहीं आता कि वह प्रदर्शन आदि से अपने विपक्षी को डराए या उसकी किसी मुसीबत या संकट से लाभ उठाए। उसका कोइ व्यवहार गुप्त या रहस्यमय नहीं होता; वह जो कुछ करता है, खुले-आम करता है, बल्कि अपने विपक्षियों को अपने कार्यक्रम की नियमित सूचना दे देता है। अधिकाधिक कष्ट उठाते हुए सत्याग्रही जनता की सहानुभूति अपनी और आकर्षित करता है। लोक-

---

[१] **"गांधी मार्ग"**

मत को ही वह अपना बड़ा बल समझता है। और इसे बढ़ाने के लिए उसके पास आत्म-बलिदान मुख्य साधन है।

साधन-शुद्धि का आग्रह—सत्याग्रही की कार्यपद्धति बहुत से आदमियों को बड़ी अजीब और अटपटी मालूम होती है। चतुर चालाक या होशियार लोग तो उसे निर्बुद्धि या मूर्ख ही समझा करते हैं। वे कहा करते हैं कि "हमें तो साध्य से मतलब होना चाहिए, वह अच्छा हो, फिर चाहे जैसे साधनों से प्राप्त किया जाय—अहिन्सा-हिन्सा या नैतिक-अनैतिक के विचार का झंझट क्यों रखा जाय। परन्तु सर्वोदय में और इसलिए सत्याग्रह में साधन-शुद्धि का पूरा आग्रह रहता है। इस विषय में कोई समझौता नहीं किया जा सकता"। गांधी जी ने कहा है "लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन ही है। मैं कहता हूँ, साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन होगा, साध्य भी वैसा ही हो जाएगा। साध्य और साधन के बीच कोई दीवार नहीं है। ईश्वर ने हमें साधन पर ही नियंत्रण रखने की शक्ति दी है और वह भी बहुत सीमित, साध्य पर बिलकुल नहीं। साधन का जितना अमल होगा, साध्य की प्राप्ति भी उसी अनुपात में होगी। इस सिद्धान्त में कोई अपवाद की गुंजाइश नहीं।" "साधन एक बीज के समान है, और साध्य वृक्ष के; और साधन तथा साध्य में वही अविच्छेद सम्बन्ध है जो कि एक बीज और वृक्ष में होता है।" 'यदि एक व्यक्ति साधन की चिन्ता कर लेता है तो साध्य अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा।'

सत्याग्रह का फल : हृदय-परिवर्तन—सत्याग्रही को अपनी धन-सम्पत्ति का लोभ नहीं होता, अपनी प्रतिष्ठा या धाक जमाने का उसे विचार नहीं होता, अपने परिवार, मित्रों और सगे सम्बन्धियों का उसे मोह नहीं होता। वह किसी शस्त्रास्त्र, कूटनीति या चालबाजी का सहारा नहीं लेता। उसका तो एकमात्र बल कष्ट-सहन होता है। वह अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तैयार रहता है। इससे विपक्षी के हृदय पर प्रभाव पड़ना, उसका अज्ञान या मोह दूर होना स्वाभाविक है। गांधी जी ने लिखा है, "कठोर से कठोर हृदय और गहरे से गहरा अज्ञान बलिदान के उस उगते हुए सूर्य के सामने नष्ट हो जाना चाहिए, जिसके पीछे न क्रोध की भावना है और न बुराई की।" इस प्रकार अज्ञान का नाश होने पर विपक्षी को सत्य का प्रकाश मिलेगा, वह सत्याग्रही की बात पर शान्ति से विचार करेगा, उसे अपनी भूल मालूम होगी और वह सत्याग्रही की मांग को स्वेच्छा से

स्वीकार करेगा। इस प्रकार सत्याग्रह का परिणाम विपक्षी का हृदय-परिवर्तन होगा और इससे दोनों पक्षों में प्रेम और सद्भाव पैदा होने से दोनों का ही हित होगा।

यदि सत्याग्रही ने भय आदि अनुचित या अनैतिक साधनों का उपयोग करके अपना काम निकाला है और विपक्षी का यथेष्ट हृदय-परिवर्तन न होने से वह मन ही मन फिर कुछ गड़बड़ करने की सोचता है तो यह सत्याग्रही की पराजय ही है। वह इस पराजय का कारण अपने भीतर तलाश करे और उसे हटाने की ओर ध्यान दे। उसकी विजय विपक्षी का हृदय-परिवर्तन करने में ही है।

सत्याग्रह की हिंसक प्रतिकार से तुलना—कितने ही आदमियों का यह विचार होता है कि हिन्सा, रक्तपात अर्थात् बल-प्रयोग द्वारा काम जल्दी हो जाता है, अहिन्सा में तो बहुत अधिक समय तक इन्तजार करनी पड़ती है। यह मत बहुत भ्रममूलक है। हिंसक साधनों से जिन लोगों का दमन किया जाता है, उनका हृदय-परिवर्तन नहीं होता; वे अवसर की ताक में रहते हैं, समय पाकर फिर पहले जैसा आचरण करने लगते हैं। ऐसा भी होता है कि हिन्सा से तत्कालीन अत्याचारियों को समाप्त कर दिया जाता है, पर इससे समाज का वातावरण नहीं सुधरता और उनके उत्तराधिकारी—उसी पीढी के हों या अगली पीढी के—अपने पूर्वजों की हत्या का बदला लेने की इन्तजार और तैयारी करते रहते हैं। इससे थोड़े बहुत समय में घोर दुष्परिणाम सामने आता है।

हिन्सा का आसरा लेने वाले जो व्यक्ति पहले समाज-हितैषियों के रूप में रंगमंच पर आते हैं, वे ही पीछे शक्ति और सत्ता पाकर शोषक और पीड़क बन जाते हैं। फिर जनता को इनसे टक्कर लेनी होती है। यदि फिर हिन्सा से काम लिया जाता है तो फिर वही स्थिति आने की आशंका रहती है और यह दुश्चक्र चलता रहता है।

हिन्सा में जीत उसी की होगी, जिसके पास ताकत अधिक है। आज आप अधिक बल प्रयोग कर के अपने प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं, कल कोई दूसरा दल सुसंगठित और अधिक ताकतवर हो कर आप पर विजयी हो जाएगा। यह भी सम्भव है कि आपके साथी ही हिन्सक मनोवृत्ति के कारण आपके विरोधी बन जाएँ। रूस का ताजा उदाहरण सामने है। वहां सत्ता की लड़ाई

चली। बेरिया जिसके पास पुलिस की ताकत थी, वह फौजी ताकत के बल पर गिरफ्तार कर के अपने स्थान से दूर फेंक दिया गया। पीछे से मौत के घाट उतार दिया गया। हिन्सक प्रतिकार नकारात्मक और विध्वंसक होता है। इसके विपरीत, सत्याग्रह में विध्वंस के साथ-साथ निर्माण कार्य भी चलता रहता है; वह बुराई का नाश करते हुए बुराई करने वाले का हित चाहता है और उसके उत्थान में योग देता है। गांधी जी का कथन है कि "मेरा असहयोग यद्यपि मेरे विश्वास का एक अंग है, सहयोग की एक भूमिका है। मेरा असहयोग तरीकों और व्यवस्थाओं से है, व्यक्तियों से कभी नहीं।" इस प्रकार सत्याग्रह वास्तव में सहयोगात्मक और रचनात्मक है, जब कि हिन्सा विनाशात्मक होती है।

सत्याग्रह का प्रभाव; अपनी उन्नति और दूसरों का भी सुधार—सत्याग्रह की क्षमता में अटूट विश्वास रखते हुए गांधीजी ने कहा है कि 'जब एक बार उसका आरम्भ हो जाता है, उसका प्रभाव, यदि वह काफी गहरा है तो समस्त संसार पर फैल सकता है। वास्तव में एक पूर्ण सत्याग्रही अन्याय के विरुद्ध न्याय की लड़ाई में विजय प्राप्त करने के लिए काफी है।' "सत्य के साथ अहिंसा को जोड़ देने से तुम समस्त संसार को अपने चरणों में झुका सकते हो।"

राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाले अन्य व्यक्ति प्रायः दूसरों को ही ठीक करने का दम भरा करते हैं, स्वयं अपने सुधार का प्रयत्न नहीं करते। सत्याग्रही की यह बात नहीं। यद्यपि उसकी इच्छा यह रहती है कि दूसरों का भी सुधार हो, उसका लक्ष्य आत्मोन्नति करना होता है। वह जहां तक सत्याग्रह के सिद्धान्तों का पालन करके इसमें सफल होता है, वहां तक उसकी विजय निश्चित है। इसका प्रभाव विपक्षियों पर बुरा तो पड़ने से रहा, अच्छा ही पड़ता है—परिस्थिति के अनुसार उसका परिणाम कुछ कम हो या ज्यादा। यदि कभी दुनिया को सत्याग्रही की आत्मोन्नति या उसके विपक्षी पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्ट दिखायी देने योग्य नहीं होता तो यह दूसरी बात है। सत्याग्रही की तो विजय है ही। वास्तव में इसमें पराजय की तो गुंजायश ही नहीं है।

स्वाधीनता अन्दोलन में अहिंसा का प्रयोग—भारत में छोटे-छोटे राजनैतिक आन्दोलनों में अहिन्सा की सफलता के कितने ही उदाहरण मिले हैं, पर हमने अपने जीवन-काल में एक महान प्रयोग भी सफल होते देख लिया है। भारत

ने जो स्वाधीनता प्राप्त की, उसमें यद्यपि अन्य सहायक कारणों के होने से इन्कार नहीं किया जा सकता, इसमें कोई सन्देह नहीं, अहिन्सा का कुछ कम भाग नहीं है। स्वाधीनता प्राप्त करने का यह अहिन्सात्मक ढंग बड़ा अनोखा रहा। अंगरेजों से घोर यातनाएँ मिलने पर भी भारत का उनके प्रति दुर्भाव न हुआ। अन्त में अंगरेजों ने यहां का राजकाज यहां वालों को सौंपा तो हमने कुछ समय के लिये उनके ही आदमी को अपना गवर्नरजनरल रखा। इसके बाद भी इंगलैंड और भारत के सम्बन्ध में कोई कटुता नहीं रही; दोनों एक-दूसरे का सहयोग पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। इससे जन-आन्दोलन के लिए अहिन्सक पद्धति की श्रेष्ठता ऐसी स्पष्ट हुई कि संसार के विविध राज्यों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ, और वहां के आदमी आवश्यकता होने पर इसे अपना रहे हैं।

सत्याग्रह की सभी क्षेत्रों में सफलता—सत्याग्रह का प्रयोग कुछ खास देशों या विशेष श्रेणी के आदमियों तक सीमित नहीं है, इसकी सफलता सभी क्षेत्रों में हुई है। श्री रिचर्ड वी० ग्रेग ने लिखा है—"क्या अहिन्सक प्रतिरोध (सत्याग्रह) का प्रयोग केवल बुद्धिजीवी साधु या संन्यासी ही कर सकते हैं? क्या वह केवल पूर्वीय देशों की ही मनोवृत्ति, विचारसारणि, भावना, क्रिया, और रहनसहन के लिए उपयुक्त है? नहीं, ऐसा बिलकुल नहीं है। इसके इतिहास से सिद्ध है कि इसका सफल प्रयोग किसानों, मजदूरों, बुद्धिजीवियों, नगर-निवासियो और साधुओं तथा साधारण ढंग के लोगों ने किया है; गरीबों ने और अमीरों ने, सम्पत्तिशालियों ने, और घर-बार हीन खानाबदोशों ने मांसाहारियों ने और शाकाहारियों ने, यूरोपियनों ने, अमरीका वासियों ने, हब्शियों ने, चीनियों ने, जापानियों ने, भारतीयों ने, धार्मिक वृत्ति वालों ने और धार्मिक वृत्ति रहित लोगों ने—सबने किया है। इसका उपयोग सफलता पूर्वक राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक संघर्षों में हुआ है। इसका उपयोग व्यक्तियों ने भी किया है और छोटे-बड़े दोनों तरह के समूहों ने भी किया है।[1]"

विशेष वक्तव्य—राजनीति में धूर्त्तता, कूटनीति, चालाकी को प्रधानता मिलने से इस युग में जनता बहुत परेशान थी। हिन्सा के अधिकाधिक साधनों से

---

[1] 'अहिंसा की शक्ति'

सुसज्जित शासकों या राजसत्ता का मुकाबला करनेके लिए आदमियों को कोई रास्ता नहीं मिल रहा था। हिन्सक उपायों को काम में लाने वाले जो व्यक्ति जनता को राहत देने के लिए नेता बनते थे, वे अत्याचारियों का दमन करके पीछे स्वयं जनता के लिए संकट बन जाते थे। ऐसे समय में गांधी अपने सत्य और अहिंसा के साथ आता है, और संसार को राजनीतिक (तथा अन्य) बुराई का सफल प्रतिकार करने का तरीका बतलाता है। मानव समाज के प्रत्येक सच्चे हितैषी की यह इच्छा है कि अन्याय और अत्याचार को दूर करने के लिए अब मनुष्य अपने आत्मबल से काम लें और हिन्सा तथा पशु बल का प्रयोग अपने से नीचे दर्जे के जीवों अर्थात् पशुओं के लिए छोड़ दें। गांधीजी ने हमारी इस आशा को बल प्रदान किया है।

ऊपर यह बताया गया है कि गांधीजी ने वर्तमान समाज की प्रचलित बुराईयों को हटाने का एक नया अर्थात् अहिन्सक मार्ग निकाला। इसके अलावा उन्होंने इस विषय में भी चिन्तन, मनन और प्रयोग किये कि समाज-रचना किस प्रकार ऐसी हो, जो सब के लिए न्यायपूर्ण और हितकारी हो। इस वाक्य में "सब के लिए" शब्द खास ध्यान देने योग्य हैं, यह आगे स्पष्ट हो जायगा। यद्यपि गांधीजी प्राणीमात्र के प्रेमी और हितैषी थे, हमें यहां उनके मानव समाज सम्बन्धी आदर्श और कार्यों का ही विचार करना है।

[३]

'सर्वजनहिताय' नीति

गांधीजी का समाज-रचना का कार्य—गांधीजी समाज-संस्कार के साथ समाज-रचना का भी कार्य करते और कराते रहे। उनके इस दूसरे कार्य का महत्व गांधीजी के समय में बहुत कम लोगों ने समझा। जिन लोगों ने उसमें भाग लिया, उनमें से अधिकतर ने उसे अपने नायक की आज्ञा मानने के रूप में किया; स्वयं उनकी उस ओर विशेष रुचि या आकर्षण न था। पर गांधीजी उसे अनिवार्य मानते और बहुत महत्व देते थे। बात यह थी कि उनके सामने बराबर यह प्रश्न रहा कि अहिन्सा और सत्य के आधार पर न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए और उसका आदर्श रखते हुए कहां तक उसके निकट पहुंचा जा सकता है। प्राचीन

दार्शनिकों और शास्त्रकारों ने इस विषय पर तो खूब चिन्तन और मनन किया तथा अपनी कृतियों में प्रकाश डाला कि मनुष्य किस प्रकार आध्यात्मिक साधना करे, पर यह विचार बहुत कम किया कि समाज संगठन कैसे इस तरह का बने कि मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनुकूल वातावरण हो। गांधीजी ने आध्यात्मिक विचारधारा व्यक्तियों तक ही सीमित न रखकर उसका समाज-व्यवस्था और परिस्थिति-निर्माण में यथेष्ट समावेश करने का बिचार किया, और इस दिशा में जीवन भर लगे रहे। जैसा कि श्री कृपलानी जी ने कहा है, गांधीजी का मत था कि "नैतिक अच्छाई हवा में नहीं रहती बल्कि समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में निहित होती है। अतः सामाजिक संगठन को अवश्य जागरूक करना चाहिए और उसमें सुधार करना चाहिए जिससे वह नैतिक धर्म को प्रतिबिम्बित करे। मनुष्य समाज में पैदा होता है, उसी में जीता है और उसी में मरता है। मानव शरीर की भांति उस समाज को भी ईश्वर का उपयुक्त मंदिर बनाना चाहिए। बुद्ध ने निर्वाण करने के बाद यह आकांक्षा प्रकट की थी कि उनका तब तक फिर फिर पुनर्जन्म हो जब तक कि अंतिम मानव का भी कल्याण न हो जाये। गांधीजी एक दूसरे रूप में और एक दूसरे दृष्टिकोण से यह चाहते थे कि समानता और जनतंत्र के अधिकार पर व्यवस्थित और संगठित समाज में नागरिक का कर्त्तव्य निभाने वाले, अपनी दिनचर्या में लगे प्रत्येक, सामान्य स्त्री और पुरुष के लिए नैतिकता पूर्ण जीवन-निर्वाह संभव हो सके।"

पहले विचारकों का आदर्श, 'बहुजनहिताय' नीति—यद्यपि समय-समय पर कुछ सन्तों और महात्माओं आदि ने समाज में सब के सुखी होने की बात कही, प्रायः आदमियों की नीति स्वार्थमूलक रही। उन्होंने अपना हित सोचा—अपने परिवार वालों का, अपनी जाति बिरादरी या अपने समूह का। अपने परांये का भेद बनाये रखा। पाश्चात्य सूत्रधारों ने यह सिद्धान्त रखा कि अधिकांश लोगों का अधिकतम हित हो। यह "बहुजनहिताय", "बहुजनसुखाय" की बात हुई। इनकी दृष्टि से यदि अधिक आदमियों का हित साधन करने में कुछ लोगों के हितों की अवहेलना होती हो, तो उसे होने देना चाहिए। इस प्रकार राज्यव्यवस्था में बहुमत अल्पमत की बात चली। दो या अधिक पक्षों की पार्टीबन्दी या दलगत राजनीति की बात आयी। पहले बताया जा चुका है कि आधुनिक लोकतंत्र भले ही

"बहुजनहिताय", "बहुजनसुखाय" हो, वह 'सर्वजनहिताय", 'सर्वजनसुखाय' कदापि नहीं। इसलिए उसमें सत्ता की होड़, ईर्ष्या, द्वेष या कलह आदि स्वाभाविक हैं, जिसके घातक परिणाम जग-जाहिर हैं।

गांधीजी का विचार, "सर्वजन हिताय" नीति—गांधीजी को समाज-रचना का यह दोष असह्य था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—'मैं ज्यादा से ज्यादा संख्या के ज्यादा से ज्यादा भले के सिद्धांत को नहीं मानता। उसे नंगे रूप में देखे तो उसका अर्थ यह होता है कि ५१ फीसदी के मान लिये गये हितों की खातिर ४६ फीसदी के हितों का बलिदान कर दिया जाना उचित है। यह सिद्धांत निर्दय है और इससे मानव समाज को बहुत हानि हुई है। सब का ज्यादा से ज्यादा भला करना ही एक सच्चा गौरव युक्त और मानवता युक्त सिद्धांत है और यह सिद्धांत अधिकतम स्वार्थत्याग से ही अमल में लाया जा सकता है।'

गांधीजी ने राजव्यवस्था के सब अंगों में "बहुजन हिताय" नीति का परित्याग कर "सर्वजनहिताय" नीति रखी। उनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह बात छिपी न रही कि राजनीति बहुत कुछ अर्थनीति से प्रभावित और नियंत्रित होती है, इसलिए उन्होंने अर्थव्यवस्था के लिए भी 'सर्वजनहिताय' नीति रखे जाने का आग्रह किया। उनकी विचारधारा को इस गुण के कारण सर्वोदय कहा जाता है।

राजव्यवस्था सम्बन्धी आदर्श—समय-समय पर अनेक लेखकों, कवियों और दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से आदर्श राज का चित्र खींचा है। धर्माचार्यों ने उसे रामराज या पृथ्वी पर ईश्वर का राज आदि कहा है। उन्होंने तथा उनके अनुयाइयों ने अपने दैनिक जीवन में विविध सद्गुणों का परिचय दिया और उससे सर्व-साधारण को उस सुन्दर सर्वहितकारी राज्य की कुछ झलक मिली। तथापि अब से पहले अधिकतर आदमियों ने उसे प्रायः काल्पनिक या केवल मनबहलाव की बात माना। पर अब क्रमशः अधिकाधिक आदमी इस पर ब्योरेवार और गहरायी से विचार करना आवश्यक समझते हैं। अब जगह-जगह कितने ही महानुभाव इसे संभव या व्यावहारिक समझने लगे हैं, चाहे इसका मूर्तरूप कितने ही अर्से के बाद सामने आये, अथवा इसका पूर्णरूप जहां तक हमारी दृष्टि पहुंचती है एक आदर्श मात्र ही रहे।

गांधीजी की कल्पना का रामराज—गांधी जी ने समय-समय पर राज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट किये हैं। उनके सामने भारतीय राष्ट्र के समग्र जीवन का प्रश्न था, उसमें राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक समस्याओं का जुदा-जुदा विचार न था। उन्होंने रामराज की परिभाषा इन शब्दों में की[1] :—

"धर्म की निगाह में रामराज का मतलब है इस धरती पर ईश्वर का राज। राजनीति की निगाह में रामराज का मतलब है वह पूरा-पूरा लोकराज जिससे अमीरी, गरीबी, रंग, नस्ल या धर्म, मजहब के आधार पर किसी तरह की ऊंच नीच नहीं रहेगी। रामराज में भूमि और राज दोनों का मालिक जनता होगी। इन्साफ तुरन्त पूरा और सस्ता होगा। इसलिए पूजा बन्दगी की, बोलने की और लिखने-छापने की सबकी आजादी होगी। यह सब इसलिए क्योंकि सबके ऊपर आत्मसंयम (अपने पर काबू) का नियम राज करेगा, सब अपनी इच्छा से उस नियम के अधीन रहना मंजूर करेंगे।"

गांधीजी ने यह भी कहा है कि—

"मेरी स्वराज्य की कल्पना राजकाजी आजादी की कल्पना नहीं है। मैं जीवन के हर पहलू में धर्म का राज यानी सत्य और अहिन्सा का राज देखना चाहता हूं—किसी का गुलाम रहना आदमी की शान के खिलाफ है।"

भारतवर्ष सम्बन्धी विचार—गांधीजी ने फिर कहा है कि 'मैं एक ऐसे हिन्दुस्तान को लाने के लिए काम करूंगा जिसमें गरीब से गरीब आदमी यह महसूस करें कि यह देश उनका देश ह, जिसके बनाने में उसकी भी पूरी-पूरी राय और उनका हिस्सा है। उस हिंदुस्तान में न कोई ऊंची जाति होगी न कोई नीची जाति; उसमें सब धर्मों के लोग पूरे मेल मिलाप के साथ रहेंगे।.....इस तरह के हिन्दुस्तान में छुआछूत की लानत के लिए कोई जगह नहीं हो सकती और न किसी तरह की नशे की चीजों के लिए। स्त्रियों को वही अधिकार होंगे जो पुरुषों को—यही हिन्दुस्तान है, जिसका मैं सपना देखता रहता हूं।"

---

[1]**डाक्टर पट्टाभि सीतारमय्या द्वारा ५५ वें कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत।**

विशेष वक्तव्य—सब देशों की स्थिति एकसी नहीं होती। इसलिए उपर्युक्त व्यवस्था की ब्योरेवार बातों में देशकालानुसार आवश्यक परिवर्तन हो सकता है। मुख्य बात यह है कि व्यवस्था ऐसी हो, जो सबका भला करे, जिसमें काले-गोरे का भेद न हो; अमीरी-गरीबी दूर होकर समता की भावना हो; एशिया, अफरीका, यूरोप और अमरीका आदि की जनता में किसी प्रकार का अन्तर न माना जाय; कोई जाति, वर्ण, वर्ग या समूह निम्नकोटि का न समझा जाये। हर दशा में सब के हित की भावना कार्यरूप में आये।

———

दूसरा खंड

सर्वोदय में समाज का आदर्श

ऐसे समाज की रचना सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक-के-ऊपर-एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक-के-बाद-एक की शकल में होगा। जिन्दगी मीनार की शकल में नहीं होगी, जहां ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहां तो समन्दर की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शकल में होगी, और व्यक्ति यानी फर्द इनका मध्य बिन्दु या मरकज होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव की खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गांव अपने इर्द गिर्द के देहात के लिए मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायेगा, जो घमण्डी या मगरूर बन कर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं; और अपने में समन्दर की उस शान को महसूस करते हैं; जिसके वे एक जरूरी हिस्सा या अंग हैं।

इसलिए सब से बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का इस्तेमाल भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि वह उन सब को ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा।

—गांधी जी

चौथा अध्याय

स्वयं अनुशासित व्यक्ति

यदि राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि वह स्वयं नियंत्रित रहे तो प्रतिनिधित्व की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह एक सुसंस्कृत अराजकता की अवस्था होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना ही शासक होगा। वह अपना नियमन आप ही इस तरह करेगा कि जिससे उसके पड़ोसी के हित में बाधा न हो।

—गांधी जी

सर्वोदय में राजव्यवस्था का स्वरूप आदि कैसा होगा, इसका विचार करने से पहले सर्वोदय समाज का आदर्श जान लेना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट ही है कि सर्वोदय समाज वह है, जिसमें सब का हित और उन्नति हो, सब सुखी हों, ऊंच-नीच या अमीर-गरीब आदि का भेद न हो। न कोई शोषक हो और न कोई शोषित हो। सबके साथ न्याय हो, समता का व्यवहार हो। अस्तु, इस अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि सर्वोदय में व्यक्ति कैसा रहेगा और समाज से उसका सम्बन्ध कैसा होगा।

व्यक्ति और समाज; दोनों की एक दूसरे के लिए उपयोगिता— मनुष्य ने सामाजिक जीवन में अपने परिवार तथा संगी-साथियों के लिए समय-समय पर तरह-तरह का कष्ट उठाया है, शारीरिक और मानसिक परिश्रम किया है, अनुपम त्याग किया है, यहां तक कि अपने प्राणों को भी न्योछावर करने की तत्परता और आकुलता दिखाई है। इससे जहां एक ओर समाज का हित हुआ है, दूसरी ओर मनुष्य के भी व्यक्तित्व का विकास हुआ है, उसमें विविध मानवी गुणों की वृद्धि हुई है। विविध व्यक्तियों ने लेखक, व्यापारी, शासक, उपदेशक या आविष्कारक आदि के रूप में जितना अधिक त्याग और तपस्या करके समाज की उन्नति में योग दिया है,

उतना ही उनका चरित्र अधिक निखरा है। यदि समाज न हो तो आदमी किससे प्रेम करे, किस पर दया करे, किसके साथ सत्य का व्यवहार करे, किस को क्षमा करे। इसी तरह अन्य गुणों के अभ्यास की बात ले सकते हैं। स्पष्ट है कि आदमी के प्रेम, दया, सत्य और क्षमा आदि गुणों की उत्पत्ति या वृद्धि सामाजिक जीवन के कारण ही हुई है और उसे अपना विकास करने के लिए समाज की अत्यन्त आवश्यकता है।

अब समाज की बात लें। व्यक्तियों की उन्नति, विकास और योग्यता का लाभ उसे मिलनेवाला ही है। यदि समय-समय पर जुदा-जुदा देशों में कुछ विशेष बुद्धि-सम्पन्न, कुशल, स्वतंत्र चिंतन करनेवाले मेधावी महानुभाव न होते रहते तो समाज की क्या गति हुई होती! इन्होंने अपने समय के सामाजिक विकारों को हटाया, प्रगति के मार्ग में उपस्थित बाधाओं का निवारण किया, भूली-भटकी जनता को प्रकाश दिया और उसे सुधार के मार्ग पर चलने को उत्साहित और प्रेरित किया। तभी तो समाज की प्रगति हुई।

निदान यदि व्यक्ति अपने विकास के लिए समाज का ऋणी है तो समाज की प्रगति का श्रेय भी उसके व्यक्तियों को है। दोनों की एक दूसरे के लिए उपयोगिता और अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

समाज-रचना का आदर्श : व्यक्ति का विकास—इसलिए समाज का निर्माण इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके प्रत्येक सदस्य को भौतिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के विकास का अधिक से अधिक अवसर मिले। समाज को प्राप्त कोई भी साधन ऐसा न हो, जो सबके उपयोग के लिए खुला न हो। उसकी शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, आदि की कोई संस्था ऐसी न हो जिसका उपयोग करने से, कोई व्यक्ति (जाति, धर्म या वर्ण आदि के कारण) वंचित हो। उत्पादन के मूल साधन सब को सुलभ हों, उन पर किसी व्यक्ति विशेष या समूह विशेष को मिल्कियत का अधिकार न हो। जो सामग्री उत्पन्न हो, उसके वितरण में न्याय और सम-दृष्टि रहे, उसके उपयोग से सबका कल्याण हो।

वर्तमान दशा में प्रायः सभी देशों में समाज की थोड़ी-बहुत संस्थाएँ ऐसी हैं, जो सार्वजनिक कही जाने और सिद्धान्त से सब के लिए खुली होने पर भी, व्यवहार में और नहीं तो बहुत से गरीब लोगों के लिए बन्द हैं। इससे स्पष्ट है

कि सर्वोदय का आदर्श प्राप्त करने में अभी कितनी कमी है। समाज को इस ओर बराबर बढते रहना है।

व्यक्ति का कर्तव्य; समाज-हित—इस प्रसंग में व्यक्ति के कर्त्तव्य-पालन की मुख्य बात यह है कि वह अपने स्वभाव को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता रहे कि अपने स्वार्थ या वासना के सामने दूसरों के सुख सुविधाओं को अधिक महत्व दे और इसमें आनन्द का अनुभव करना सीखे। अपने मुनाफे के लिए नहीं, सेवा के लिए अपना जीवन बिताये। हम ऐसी वस्तुओं का उत्पादन न करें जिनकी समाज के लिए प्रमुख आवश्यकता न हो। हम स्वदेशी या विदेशी ऐसी वस्तुओं का उपयोग न करें—चाहे वे कितनी ही सस्ती मिलती हों—जिनके उत्पादकों का शोषण होता है, स्वास्थ्य बिगड़ता हो, या विकास में बाधा पड़ती हो।

सर्वोदय समाज में व्यक्ति को कर्तव्य-पालन की प्रेरणा कैसे मिलेगी?—यह निर्विवाद है कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। उस पर बाहरी नियंत्रण न हो, अथवा कम से कम हो। व्यक्तित्व का यथेष्ट विकास स्वेच्छापूर्वक संचालित लोकजीवन से ही हो सकता है, राज्य में नहीं; क्योंकि. जैसा आगे बताया जायगा, राज्य का आधार हिन्सा होती है। लोकतंत्री कहा जाने वाला राज्य भी, बहुमत रखनेवाली सरकार रखने के कारण अल्पमत अथवा अल्पमतों को दबानेवाला होता है। इसलिए सर्वोदय समाज का आदर्श राज्य रहित होना है। ऐसी दशा में एक प्रश्न उपस्थित होता है। मनुष्य का अब तक का विकास उसके सामाजिक जीवन के कारण हुआ है और आगे भी उसके विकास के लिए समाज-संगठन का बना रहना आवश्यक है। पर राज्य-रहित समाज में व्यक्ति को, उस पर कोई बाहरी नियंत्रण न रहने की दशा में, अपना सामाजिक कर्तव्य पालन करने की प्रेरणा कैसे होगी; व्यक्ति—स्वातंत्र्य से समाज विघटित तो न हो जायगा ?

गांधी जी के विचार; व्यक्ति स्वयं अनुशासित हो—इस प्रश्न का उत्तर गांधीजी के इस कथन में मिलता है :—"मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता की कद्र करता हूँ, लेकिन आपको यह न भूलना चाहिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्ति-वाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं से निभाना सीख कर ही अपनी वर्तमान हालत तक पहुंच सका है। नियंत्रण-हीन व्यक्तिवाद जंगल के जानवरों का नियम है। मनुष्य ने सामाजिक प्रतिबन्ध और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच संतुलन करना

सीखा है। पूर्ण समाज के हित के लिए सामाजिक प्रतिबन्धों को अपने आप मान लेना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है।"[१] गांधीजी की विचारधारा के अनुसार जो व्यक्ति अपने जीवन में पूर्णरूप से अहिन्सा का पालन करनेवाला हो, दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप न करता हो, किसी के विकास में बाधक न हो, उसके लिए किसी बाहरी नियंत्रण या अनुशासन की जरूरत नहीं होती। ऐसे व्यक्ति स्वयं अपने शासक होंगे, वे अपने कर्तव्यों को भली भांति समझेंगे और उनका पालन करेंगे। ऐसे व्यक्तियों का संगठन और व्यवस्था तो होगी, पर उन पर कोई बाहरी दबाव डालने की बात न होगी। गांधीजी ने कहा है कि 'अहिन्सा के आधार पर स्थापित समाज में गांवों में निवास करनेवाले कई समूह होंगे, जिनमें स्वेच्छा-पूर्वक सहयोग ही उच्च और शान्त जीवन का स्तम्भ होगा।'

गांधीजी मानते थे कि 'आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी।' उन्होंने हमारे सामने ऐसे ऊंचे दर्जे की सभ्यता वाले समाज का आदर्श रखा है 'जिसका हर आदमी यह जानता है, और इससे भी बढ़कर जहां यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती, वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिए।'

समय-समय पर कुछ सज्जनों ने स्वेच्छा से अपने व्यवहार में, दूसरों के लिए अपूर्व त्याग और कष्टसहन का उदाहरण दिया है। क्या यह आशा करना अनुचित होगा कि भविष्य में ऐसे स्वयं अनुशासित व्यक्तियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ कर समाज के अधिकाधिक भाग को प्रभावित करेगी ? इस प्रसंग में स्वयं शासित लोकतंत्र के स्वरूप के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार जान लेना उपयोगी होगा।

स्वयं शासित लोकतंत्र का रूप—जैसा श्री भारतन कुमारप्पा ने लिखा है—[२] गांधीजी स्वयं शासित लोकतंत्र के इतने बड़े समर्थक थे कि वे मनुष्य को स्वार्थों का गुलाम बना वाली रहन सहन द्वारा उच्च स्तर पर ले जाने वाले औद्योगीकरण का विरोध तो करते ही थे, मनुष्य को गुलामी की ओर और भी अधिक खींच ले जानेवाली शराब तमाखू, औषधियों आदि के भी विरोधी थे।

---

[१]'**हरिजन**', १७-५-३९

[२]'**सर्वोदय**', **दिसम्बर १९५४**

'औषधियाँ और शराब, ये शैतान की दो भुजाएँ हैं, जिनसे वह अपने अधीन निश्चेष्ट व्यक्तियों को मूर्ख और पागल बनाता है।'[१]

'प्रलोभनों पर विजय पाना प्रत्येक स्त्री और पुरुष का महान् कर्तव्य है। प्रलोभनों पर काबू पाये बिना मनुष्य आत्मशासन की आशा नहीं कर सकता। आत्मशासन के बिना रामराज नहीं हो सकता। आत्मशासन के बिना सब पर शासन करना धोखा और निराशाजनक होगा। वह खिलौने के उस रंग-बिरंगे आम की तरह होगा, जो ऊपर से आकर्षक दिखलायी तो पड़ता है, परन्तु भीतर पोला और छूंछा ही होता है।'[२]

इसलिए लोकतंत्र के माने निश्चित रूप से व्यक्ति का अपने ऊपर शासन करना है। हिन्सा और दबाव लोकतंत्र के विरोधी हैं, जिनमें विरोधी के विचारों और कार्यों की स्वतंत्रता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। हिन्सा को कभी भी सच्चे लोकतंत्र में स्थान नहीं मिल सकता। इसलिए 'लोकतंत्र और हिन्सा कभी एक साथ नहीं चल सकते।'[३]

'हमारा आदर्श, मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय पर नम्रता के साथ प्रभाव डालना होना चाहिए। इसलिए जिन लोगों के विचार हमसे नहीं मिलते, उनके प्रति हमें हमेशा सहिष्णु और सभ्य रहना चाहिए।'[४]

सर्वोदय समाज की रचना के लिए आवश्यक कार्य—सर्वोदय समाज या अहिन्सक समाज की रचना की दिशा में एक आवश्यक कार्य यह होना चाहिए कि सरकार का कार्य-क्षेत्र अधिकाधिक सीमित किया जाय। बात-बात में उसका आसरा न लिया जाय। जहां तक भी सम्भव हो उसकी सहायता के बिना काम चलाया जाय। इस दृष्टि से गांव-गांव में निर्लोभी, निस्वार्थी और सेवाभावी सदस्यों की ग्राम-समिति संगठित हो। वह देखे कि गांव में किन-किन सरकारी विभागों का क्या क्या काम होता है। इन कामों में से कुछ को छांट कर उन्हें गांव वालों के सहयोग

---

[१] **'यंग इंडिया'**, २२-४-२६

[२] **'हरिजन'**, २१-११-३६

[३] ,, १२-११-३८

[४] **'यंग इंडिया'**, २९-९-२१

से पूरा किया जाय। यह प्रयोग क्रमशः बढ़ाया जाय। यहां तक कि ग्राम-समिति अपने क्षेत्र में ग्रामराज की अधिक से अधिक जिम्मेवारी अपने ऊपर ले—भोजन वस्त्र से लेकर शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, रक्षा आदि का भी सब काम स्वयं करने की दिशा में आगे बढ़ती जाय। जो काम उसकी शक्ति से बाहर हो, उसकी ही जिम्मेवारी अपने से ऊपर की अर्थात् जिला-सभा जैसी संस्था को सौंपे। पर वह बराबर यह प्रयत्न करती रहे कि उसका कार्यक्षेत्र अधिकाधिक हो, और जिला-सभा का कार्य-क्षेत्र क्रमशः कम होता जाय। इस तरह का प्रयोग क्रमशः थाने भर में चले। जब काम अच्छी तरह चल निकले तो सरकार को सूचित किया जाय कि अमुक-अमुक विभागों का काम वह अपने प्रबन्ध से हटा कर ग्राम-समितियों को सौंप दे, और ऐसा करने से सरकारी खर्च में जो बचत हो, उतना कर वह इस क्षेत्र से कम कर दें। लोकतंत्री सरकार को जनता की ऐसी मांग स्वीकार ही करनी चाहिए, पर यदि वह ऐसा न करे तो जनता उस सीमा तक सरकारी टैक्स देने से इनकार कर सकती है। पर लोकमत ठीक-ठीक संगठित हो, और जनता में यथेष्ट आत्मबल हो तो इसकी नौबत आने की आशा नहीं।

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय समाज रचना की प्रबल इच्छा रखने वालों को चाहिए कि इसके आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यथा-सम्भव स्वावलम्बी हों और जहां तक भी बन आवे राज्य के बिना काम चलाने का प्रयत्न करें। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है, "यह कोई नहीं कह सकता कि राज्य कभी पूर्णरूप से विलीन होगा या नहीं। लेकिन यदि हम अहिन्सक लोकतंत्र का आदर्श स्वीकार करें तो हमें आज उसके लिए कार्य करना आरम्भ कर देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो लोग राज्य के बिना ही काम चलाना चाहते हैं अथवा जो उस पर कम से कम निर्भर रहना चाहते हैं, वे स्वयं नियम तथा अनुशासन से चलने वाले और न्यायप्रिय तथा एक-दूसरे से सहयोग करने वाले व्यक्ति होंगे।"

पाँचवाँ अध्याय

शोषणहीन समरस समाज

सर्वव्यापी और नित्य सत्य के साक्षात दर्शन करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य सृष्टि के छोटे से छोटे प्राणी से प्रेम करे, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि वह अपने आप से प्रेम करता है।.....मैं प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मसात होना चाहता हूँ।

—गांधी जी

हमें सारा समाज ही बदलना है, और वह अहिन्सक क्रान्ति के जरिये ही बदलना है। ऐसा समाज वर्गहीन, शोषणहीन और भेद-भावहीन, याने वह एकरस समाज होगा जो भूमि के आधार पर खड़ा होगा।

—विनोबा

सर्वोदय समाज संक्षेप में समरस होगा। ऐसे समाज में शोषण सम्भव ही नहीं। वह शासनमुक्त भी होगा। इन बातों का विचार करने के लिए पहले समरसता का आशय समझ लें।

[१]

समाज समरसता

समरस समाज का स्वरूप—समरस या एकरस समाज से आदमी विविध गुणोंवाले समाज की कल्पना किया करते हैं; कोई किसी गुण को प्रधानता देता है, कोई किसी को। वास्तव में जब लोगों में वे दुर्गुण न हो जो आदमी-आदमी में ऊंच-नीच, बड़े-छोटे या अपने-पराये का भेद भाव पैदा करते हैं, और, वे गुण हों,

जिनसे प्रेम, समानता और सहयोग का व्यवहार हो तो उन्हें समरस समाज का अंग कहा जा सकता है। श्री विनोबा के शब्दों में 'जैसे चोरी करना पाप है, वैसे संग्रह करना भी पाप ही माना जाय। धार्मिक दृष्टि से यह पाप होगा और राष्ट्रीय दृष्टि से गुनाह। उद्योग के क्षेत्र में मालिक-मजदूर भेद है। उसको मिटाना होगा। मालिक-मजदूर का साझा मानना होगा। चाहे कितने भी बड़े उद्योग हों, जो आज खानगी तौर चलते हैं, समाज की मालकियत के तौर पर वे चलेंगे। देश की आधी शक्ति, स्त्री-शक्ति हिन्दुस्तान में निकम्मी पड़ी है और उसे सामने प्रकट होने का मौका नहीं है। यह हालत भी बदलनी होगी। स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार देने होंगे। तब अपना समाज एकरस होगा और शान्ति के लिए देश में वातावरण बनेगा।'[१]

आत्मीयता के विस्तार की आवश्यकता—समरस समाज के लिए यह आवश्यक है कि आदमी एक दूसरे में आत्मीयता का अनुभव करें, दूसरों के दुःख को अपना दुःख और दूसरों के सुख को अपना सुख मानें। इस समय दूसरे आदमियों के भूख से व्याकुल होने पर भी हमें तरह-तरह के पकवान आदि खाने और अपने दोस्तों की दावत करने में कुछ संकोच नहीं होता। हम अपने लिए कई-कई जोड़े कपड़े रखने में अपना गौरव मानते हैं, जब कि हम प्रत्यक्ष उन भाई-बहनों को देखते हैं, जिनके पास बदन ढकने या लज्जा निवारण के लिए भी काफी कपड़ा नहीं है; उनके शरीर पर जो नाममात्र का वस्त्र है, वह फट कर चीथड़ा हो रहा है, और बहुत दिन का मैला होने के कारण दुर्गन्ध से भरा है। हम अपने कई कमरोंवाले मकान के भी छोटे होने की शिकायत करते हैं, जब कि कितने ही आदमी और औरतें हमारे मकान के छज्जे के नीचे सड़क पर भी जगह पाने के लिए तरसते रहते हैं।

हाँ, अगर हमारे संस्कार कुछ अच्छे हुए हैं, और विवेक कुछ जागृत हो गया है तो दूसरा दृश्य देगा। किसी के रोने या कराहने की आवाज सुनकर हमारे मन को कष्ट होगा। किसी को हंसते खेलते देखकर हम प्रसन्न होंगे। ऐसा मालूम होगा कि जीवन का कोई तार मुझ में तथा दूसरों में समान रूप से पिरोया

---

[१]'**सर्वोदय', दिसम्बर १९५४**

हुआ है। दार्शनिकों की भाषा में, सब में एक ही ईश्वर, एक ही आत्मा का निवास है।

स्वार्थ, मोह या अज्ञान के कारण हमारी विवेक-बुद्धि पर पर्दा पड़ा रहता है, हमारा हृदय संकीर्ण हो जाता है। अन्यथा मनुष्य सब में आत्मीयता का अनुभव करते हुए समाज को समरस बनाने में सहायक हो सकता है।

गांधीजी का उदाहरण—ऐसा करने वालों में गौतम बुद्ध, ईसा, टालस्टाय, रस्किन और गांधी के नाम कौन नहीं जानता, मानव इतिहास में ऐसी दूसरी भी अनेक विभूतियाँ हुई हैं। हम यहां गांधीजी की ही बात कहते हैं। उनके लिए सारी सृष्टि ईश्वर का स्वरूप थी। संसार के प्रत्येक व्यापार में उन्हें ईश्वर की सत्ता दिखायी देती थी। वे मनुष्य मात्र में ही नहीं, प्राणीमात्र में एक आत्मा होने का विश्वास करते थे, इस प्रकार सबमें आत्मीयता का अनुभव करते थे। उन्होंने लिखा है—'मेरा नीतिशास्त्र मुझे केवल इस बात का ही दावा करने की ही इजाजत नहीं देता, बल्कि उसकी तो यह मांग है कि मैं बन्दर से ही नहीं, घोडे और भेड़, शेर और चीते, सांप और बिच्छू से भी अपनी आत्मीयता अथवा जातीयता अनुभव करूं। (ये जीव भी इस आत्मीयता का अनुभव करें। यह आवश्यक नहीं है।) वह कठोर नीतिशास्त्र जिसका मेरे जीवन पर शासन है और मेरे विचार से जिसका शासन प्रत्येक स्त्री और पुरुष के जीवन पर होना चाहिए हम पर यह एक-तरफा दायित्व आरोपित करता है; और इसका कारण यह है कि मनुष्य ही का निर्माण ईश्वर की प्रतिमा के रूप में हुआ है। यह बताना सर्वथा अनावश्यक है कि सब मनुष्य अपने-अपने शरीर में उस प्रतिमा को व्यक्त करते हैं। इतना ही बता देना काफी है कि कम से कम एक व्यक्ति ऐसा कर सका है। और क्या इस बात से इन्कार किया जाएगा कि मनुष्य जाति के धार्मिक उपदेशकों ने अपने शरीर द्वारा उस प्रतिमा को व्यक्त किया है।'

आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण—आध्यात्मिक और धार्मिक विचारकों का मत इसी प्रकार का होता है, चाहे उनकी भाषा जुदा-जुदा हो। वे ईश्वर को सर्व-व्यापक मानते हुए सृष्टि भर से आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उनके लिए प्राणीमात्र की एकता का भाव ही वह अन्तिम सत्य होता है, जिसकी प्राप्ति वे मानव जीवन का लक्ष्य मानते हैं। जब आदमी इस बात को अच्छी तरह

हृदय में धारण कर लेता है और सारी सृष्टि से एकता का अनुभव करने लगता है तो उसमें प्राणी-मात्र के प्रति समानता, भाईचारा और प्रेम की भावना होना स्वाभाविक है। सभी महान धर्म-प्रवर्तकों ने अपने-अपने ढंग से यह बतलाया है कि इस चराचर सृष्टि का रचयिता एक परब्रह्म परमात्मा, ईश्वर या खुदा आदि है। सब मनुष्य उसकी संतान हैं। सब आपस में भाई-भाई हैं। सबको प्रेमभाव से रहना चाहिए, और एक-दूसरे की सेवा सहायता करनी चाहिए। किसी प्रकार का भेद भाव न मानना चाहिए। (प्रासंगिक न होने के कारण यहां मनुष्येतर प्राणियों—पशु-पक्षी आदि—का विचार नहीं किया जाता।)

समाज-समरसता का व्यवहार—हमारा आदर्श-समरस समाज स्थापित करना है। वर्तमान अवस्था में हम अपनी भलाई चाहते हैं, अपनों की भलाई चाहते हैं, पर बहुधा जिन्हें हम अपना समझते हैं उनमें सबका समावेश नहीं होता, उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। अपने आदमियों में हम अपने परिवार वालों, अपनी जाति बिरादरी वालों, अपने धर्म या सम्प्रदाय वालों, अपने पेशे वालों, अपने ग्राम, नगर या प्रान्त वालों और बहुत हुआ तो अपने देश या राष्ट्र वालों की गणना करते हैं। पर वे ही तो 'सब' नहीं होते। जरूरत है कि हम इन सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ें। इस का व्यावहारिक अर्थ यह है :—

१—पारिवारिक भावना से ऊँचा उठना
२—जाति-बिरादरी, वर्ण या रंग तथा पेशे वर्ग, की भावना से आगे बढ़ना,
३—साम्प्रदायिक भावना का त्याग,
४—प्रादेशिक भावना या प्रान्तीयता का निवारण,
५—संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग,
६—विश्वबंधुत्व की भावना को अपनाना।

इसके अतिरिक्त समाज समरसता के लिए खासकर दो बातों की और जरूरत है—समाज के शोषण हीन और शासन-मुक्त होने की। इनमें से पहले शोषण-हीन होने के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। शासन-मुक्ति की बात अगले अध्याय में होगी।

[२]

शोषण-हीन समाज

समरस समाज के निर्माण के लिए शोषण-मुक्ति का विचार करने के प्रसंग में पहले यह जान लेना चाहिए कि समाज में शोषण किस प्रकार आरम्भ हुआ।

शोषण की उत्पत्ति कैसे हुई ?—आरम्भ में आदमी उत्पादन कार्य मिल-जुल कर करते थे, और उत्पन्न सामग्री का उपयोग भी सामूहिक रूप से ही होता था। प्राचीन शास्त्रकारों का कहना है कि सतयुग में एक ही वर्ग था। पीछे लोगों में क्रमशः निजी मिल्कियत का भाव पैदा हुआ, प्रतियोगिता और संघर्ष होने लगा। साथ ही उनमें परिश्रम से जी चुराने की इच्छा बढ़ती गयी। क्रमशः उत्पादन की केन्द्रित पद्धति का आविष्कार हो गया, जिसमें अनेक आदमियों को उत्पादन के लिए श्रम न करना पड़े। ये केवल उद्योग-धंधों का संचालन या उत्पन्न सामग्री का वितरण कर के ही अपना जीवन-निर्वाह करने लगे, यही नहीं, धीरे-धीरे ये बहुत धनी या मालदार होने लग गये। शरीर-श्रम करने का भार दूसरे लोगों पर रहा, जो श्रमी या मजदूर कहलाने लगे। इन्हें अनेक दशाओं में अपनी मजदूरी से अपना और अपने परिवार का पेट भरना भी मुश्किल हो गया। समाज में शिक्षा-पद्धति भी ऐसी हो गयी कि शिक्षा पाये हुए आदमी शरीर-श्रम को घटिया दर्जे का समझने लगे। वे उद्योग-धंधों के संचालकों और व्यवस्थापकों के अधीन कुछ बौद्धिक कार्य कर के ही अपना अपना निर्वाह करने में गौरव मानने लगे। वर्तमान स्कूलों और कालिजों से निकलने वाले युवक कुर्सी-मेज पर बैठ कर बाबूगिरी करने के अभिलाषी रहते हैं, चाहे उन्हें दफ्तरों की नौकरी में कितना ही शारीरिक या मानसिक असुविधा और कष्ट हो; शरीर की मेहनत करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं।

समाज की शोषण-मुक्ति की आवश्यकता—वर्तमान समाज में शोषण की भरमार है। पूजीपति, कल-कारखाने वाला श्रमिकों का शोषण करता है; जमींदार या जागीरदार खेती करने वाले किसानों का शोषण करता है; मालिक नौकरों के श्रम से बेहद लाभ उठाता है; व्यापारी या दुकानदार ग्राहकों का शोषण करता है।

शोषित वर्ग के आदमी भी मौका मिलते ही अपने शोषकों को ठगने या धोखा देने से कब चूकने वाले हैं! पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष और तनाव बना रहता है। यदि शोषक बन्धु सौहार्द का परिचय दें, और स्वार्थवश किये जाने वाले शोषण को बन्द कर दें तो शोषितों में भी अच्छी प्रतिक्रिया हुए बिना न रहे। निदान समाज में समरसता लाने के लिए शोषण-मुक्ति की आवश्यकता स्पष्ट है।

शोषण-मुक्ति का मार्ग; अहिंसा और विकेन्द्रीकरण—समाज को शोषण-मुक्त करने के लिए हमारी पद्धति अहिंसामूलक ही होनी चाहिए, यदि हिंसा से काम लिया गया तो उसकी प्रतिक्रिया हिंसा के ही रूप में होने वाली ठहरी। हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र चलेगा। जब शोषकों को मार काटकर खत्म किया जायगा तो उनके भाई-बंधु, मित्र, रिश्तेदार आदि नये शोषकों के रूप में आने सम्भव हैं। शोषकों को हिंसा द्वारा खत्म करने वाले भी अनेक बार पीछे जाकर स्वयं शोषक बन जाते हैं। यह इतिहास-सिद्ध अनुभव बराबर ध्यान में रखना आवश्यक है।

समाज की शोषण-मुक्ति का उचित और सही उपाय आर्थिक एवं राजनैतिक विकेन्द्रीकरण है। जैसा कि श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है, 'समाज में, मेहनत करनेवाले को मेहनत का पूरा फल मिलना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब कि छोटे-छोटे उद्योग घर-घर चलाये जायं, और जो बड़े उद्योग हों, वे काम करनेवालों के हाथ में रहें। यह आर्थिक विकेन्द्रीकरण हुआ। इसी तरह राजनैतिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण हो और गांव के लोग अपना प्रबन्ध खुद करें। इसके लिए गांव को स्वावलम्बी बनाना होगा, केन्द्र पर निर्भर नहीं रहना होगा। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय शक्ति का उपयोग गांव करेगा, परन्तु उस शक्ति की ओर बराबर नजर नहीं रक्खेगा।'

श्रम-आश्रित उत्पादन—राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का विचार आगे किया जायगा, यहां हम आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ही बात लेते हैं। इसके लिए उत्पादन पद्धति पूंजी-आश्रित न होकर श्रम के आश्रित रहनी चाहिए। आजकल बहुत से आदमी पूंजीवाद के विरुद्ध हैं, पर वे उसे हटाने के लिये पूंजीपतियों को ही समाप्त करने पर जोर दे रहे हैं; पूंजी आश्रित उत्पादन-पद्धति का अन्त करने का प्रयत्न नहीं करते। इससे समस्या हल नहीं होती। चाहिये यह कि ऐसी परि-स्थिति पैदा की जाय कि पूंजी और पूंजीपति की आवश्यकता ही न रहे। मनुष्य के

जीवन निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की मूल आवश्यकता होती है वे श्रम-आश्रित उत्पादन पद्धति से तैयार हों। जैसा कि श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने लिखा है—अगर जिन्दगी की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूंजी की अनिवार्य आवश्यकता रह जाती है और पूंजीपति खत्म हो जाता है तो वह पूंजी पूंजीपति के स्थान पर किसी दलपति के हाथ में चली जायगी और जनता की जान पूंजीपति वर्ग की मुट्ठी से निकल कर दलपति की बज्रमुष्ठि के नीचे चली जायगी अर्थात् एक वर्गीय ताना-शाही के स्थान पर एक दलीय तानाशाही कायम होगी। उत्पादन का मूल साधन भूमि ही है। इसलिए अगर पूंजीवाद को खत्म करके श्रमवाद की स्थापना करना है तो उसका पहला कदम भूमि को पूंजी के कब्जे से निकालकर श्रम के ही कब्जे में डालना होगा अर्थात् भूमि का फल उसी को मिलना चाहिए जो उस पर श्रम करे।[१]

विशेष वक्तव्य—इसी विचार से विनोबा ने भूमिहीन खेतिहरों को भूमि दिलाने के लिए भूदान आन्दोलन चलाया है। भूमि के साथ वे उन्हें उत्पादन के अन्य साधन देने के लिए सम्पत्तिदान आन्दोलन भी चला रहे हैं। इसके अलावा केन्द्रित उद्योगों के बहिष्कार के आग्रह की भी आवश्यकता बतायी जाती है। इस प्रकार ऐसी समाज-रचना की तैयारी की जा रही है कि आदमी अपने जीवन-निर्वाह के लिए पदार्थों को एक-दूसरे के सहयोग से, बिना किसी (जमींदार या पूंजीपति आदि) के आश्रित रहे उत्पन्न कर सके और स्वावलम्बी रह सके।

---

[१] दंड-निर्पेक्ष समाज-रचना

छठा अध्याय

शासन-मुक्ति

मैं राज्य-शक्ति की वृद्धि की ओर अधिकतम डर के साथ देखता हूँ, क्योंकि मालूम चाहे यह पड़ता हो कि राज्य शोषण को कम कर के हमें लाभ पहुँचा रहा है, पर वह व्यक्ति का, जो सम्पूर्ण प्रगति का आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य-समाज को अधिकतम हानि पहुँचाता है। हमें बहुत से उदाहरण ऐसे मालूम हैं, जिनमें मनुष्यों ने संरक्षक का सा बर्ताव किया, लेकिन ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि राज्य का जीवन वास्तव में निर्धनों के लिए हो।

—गांधी जी

मनुष्य की आजादी छीनने वाला सब से बड़ा यंत्र शासन होता है, अर्थात् शासन-यंत्र मनुष्य की आत्मा के शोषण का कारण होता है; क्योंकि किसी व्यक्ति पर जिस हद तक शासन का दंड रहेगा उस हद तक उसकी आत्मा कुंठित रहेगी। अतः शोषण हीन समाज-रचना के लिए प्रथम आवश्यकता इस बात की है कि दुनिया में दंडहीन समाज याने स्वराज्य कायम हो।

—धीरेन्द्र मजूमदार

समाज की शासन-मुक्ति का अभिप्राय—हम लोग राज्य की छत्रछाया में जन्मे और जी रहे हैं। स्वभाव से तथा संस्कारों से हमारी यह दृढ़ धारणा बन गयी है कि शासन की हमें पग-पग पर आवश्यकता है। उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, लोगों में उच्छृंखलता या उद्दंडता और स्वेच्छाचार फैल जायगा, सामाजिक जीवन समाप्त हो जायगा, तथा हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जायगा। इस प्रकार अधिकांश आदमियों को शासन-मुक्ति की बात हास्यास्पद मालूम होती है। इस लिए यह बताना आवश्यक है कि शासन-मुक्ति से हमारा क्या अभिप्राय

है। समाज के शासन-विहीन होने से हमारा यह आशय नहीं है कि आदमी अपनी मनमानी करे, किसी प्रकार की मर्यादा का पालन न करे। शासन-मुक्ति का अर्थ यह है कि लोगों पर किसी बाहरी शक्ति या संस्था का दबाव न रहे, उस पर उसका अपना नियंत्रण तो रहेगा ही और रहना भी चाहिए। जो शासन सत्ता कुछ खास-खास आदमियों के हाथ में होती है, वह जब सब के हाथ में चली जाती है तो समाज को शासन-विहीन कहा जाता है। इसमें यह भाव है शासन की अब व्यापकता हो गयी, वह घर-घर में, व्यक्ति-व्यक्ति में आगया। इस प्रकार शासन-मुक्त समाज ही वास्तव में सच्चा शासन-युक्त समाज है।

जैसा कि श्री शिवाजी भावे ने लिखा है, शासन-विहीन समाज का एक और महत्वपूर्ण लक्षण है—वहां किसी भी दशा में हीन शासन नहीं रह सकता। हीन शासन में हीन बातों को शासन का स्वरूप दिया जाता है और वे बातें लोगों से करवाने का प्रयत्न चलता है। शासन-हीन समाज में जैसे स्वैरता या स्वेच्छाचारित नहीं है, वैसे ही हीनता के रहने की भी कोई गुंजाइश नहीं है। शासन हीन समाज का अर्थ है श्रेष्ठ-शासन-युक्त, स्वयं-शासन युक्त, सद्‌शासनयुक्त समाज।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शासन मुक्त या राज्यहीन समाज की बात से लोगों को चौंकने या घबराने की कोई बात नहीं है।

शासन-मुक्ति की आवश्यकता—राज्य में सरकार लोगों से दंड या सजा का भय दिखाकर काम कराती है। वह पुलिस, जेल और सेना आदि रखती है, और जरूरत समझने पर इस शक्ति का उपयोग करती रहती है। समय-समय पर जुदा-जुदा देशों की शासन-पद्धतियाँ बदली हैं और राज्य की दंड प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ है, और दण्ड का परिमाण भी कम-ज्यादा हुआ है, पर राज्य और दंड का सम्बन्ध अटूट रहा है। आजकल अनेक देशों में जनतंत्र या लोकतंत्र प्रणाली प्रचलित है, तो भी राज्य ने दंड को नहीं छोड़ा है। इस प्रकार राज्य हमेशा हिन्सक रहा है। गांधीजी ने कहा है—"राज्य हिन्सा का संगठित और केन्द्रित रूप है; व्यक्ति की आत्मा है, पर राज्य आत्मा-रहित मशीन है। उसे हिन्सा से बचाया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही हिन्सा से है।"

---

[1] 'देखो, 'सर्वोदय', अगस्त १९५४

राज्य की हिन्सा का आघात समाज पर होता है। इस आघात के होते रहने से समाज में वैसी ही प्रतिक्रिया होती है। इस प्रकार शासन-संस्था के फलस्वरूप मनुष्य में हिन्सा-प्रतिहिन्सा की भावना बनी रहती है, और उसकी हिन्सक प्रवृत्ति बढ़ती है। सर्वोदय समाज को अहिन्सक होना है। अहिन्सक समाज की स्थापना के लिए मनुष्य को हिन्सा-मुक्त होना चाहिए। इसलिए जब कि शासन से समाज में हिन्सा आती है, तो अहिंसक समाज के लिए शासन-मुक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

शासन-सुधार या शासन-परिवर्तन से उद्देश्य सिद्ध नहीं होता—विविध देशों में शासन से होनेवाले कष्टों के बढ़ने पर जनता ने आन्दोलन करके प्रचलित शासनपद्धति में अनेक सुधार और संशोधन किये, यहां तक एक शासनपद्धति को बदलकर दूसरी चलायी। इस तरह कई प्रकार की शासनपद्धतियों का अनुभव किया गया। परन्तु इन सब प्रयत्नों में एक भूल विशेष रूप से होती रही। शासकों को समाप्त करने और शासनपद्धति का रूपान्तर करने की ही चेष्टा की गयी पर शासन की आवश्यकता बनाये रक्खी, उन्होंने शासन से मुक्त होने का विचार तथा उस दिशा में प्रयत्न न किया। नये अधिकारियों ने 'लोकतंत्र' के रूप में जनता के जीवन में अधिक-से-अधिक स्थान बना लिया, अब बहुत से ऐसे विषयों में भी राजनीति का दखल हो गया जो पहले इससे मुक्त थे। जनता अब शासन के अधिक आश्रित हो गयी, उसकी स्वतंत्रता और भी कम हो गयी। यद्यपि उसे यह भ्रम रहा कि अब तो हमारे ही प्रतिनिधि शासन करते हैं, उसकी अधीनता और शोषण बहुत बढ़ गया। और, अधीनता और शोषण तो अनिष्टकारी ही हैं, चाहे अपने आदमियों द्वारा हों या दूसरे लोगों द्वारा। अस्तु, समाज को अहिन्सक बनाने का काम शासन-सुधार या शासन परिवर्तन से नहीं हो सकता, उसके लिए तो उसे शासन-मुक्त ही करना होगा।

शासन-मुक्ति का विचार करते हुए पहले यही प्रश्न सामने आता है कि राज्य की आवश्यकता क्यों होती है।

राज्य मानव विकास की अपूर्णता का सूचक—राज्य की जरूरत इसलिए होती है कि आदमी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोष हैं और वह समाज में अच्छी तरह रह सके, व्यवस्थित जीवन बिता सके इसके लिए उसका नियंत्रण होने की जरूरत है। आदमी अभी बहुत अपूर्ण है। क्रमशः उसका विकास हो रहा

है। उसके विकास का आशय यह है कि वह स्वस्थ, स्वावलम्बी, श्रमी, परस्पर सहयोगी, और ऐसे पुरुषार्थ और संस्कारों वाला हो कि न तो वह किसी से दबे और न किसी को दबाये। मनुष्य के ऐसा बन जाने पर उसे सामाजिक जीवन भली भाँति बिताने के लिए किसी दंड-भय की, नियंत्रक शक्ति या सरकार की जरूरत न रहेगी। प्रत्येक स्वयमेव, अपनी इच्छा से, बिना किसी कानून आदि के दबाव के अपना और समाज का कार्य अच्छी तरह करता रहेगा। सामूहिक कार्यों को करने के लिए कार्यकर्ताओं के आवश्यकतानुसार संगठन होंगे पर उनमें शासक और शासित का भेद न होगा।

शासन-मुक्ति का मार्ग अहिन्सात्मक हो—शासन-मुक्ति की आवश्यकता की बात स्पष्ट रूप से कहने का काम गांधी जी ने ही नहीं किया है, इनसे पहले मार्क्स आदि ने भी यह मत प्रगट किया है। परन्तु उनके और गांधी जी के बताये उपायों में जमीन-आसमान का भेद है। मार्क्स आदि ने वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखते हुए हिन्सा मार्ग को अपनाने की बात सामने रखी है, जबकि गांधी जी मनुष्य की सत्प्रवृत्ति को, सारी सृष्टि में अपनापन अनुभव करने की भावना को, जागृत करने के पक्ष में हैं। वे शासन-मुक्ति के लिए ग्राम स्वावलम्बन या क्षेत्र-स्वावलम्बन का अहिन्सात्मक मार्ग उपयोग में लाये जाने का आग्रह करते हैं। अनुभव ने बताया है कि हिन्सा से कोई मसला वास्तव में हल नहीं होता, कभी-कभी कोई मसला हल होता हुआ दिखायी जरूर पड़ता है, लेकिन इससे धोखे में नहीं आना चाहिए; कौन जाने कब वही मसला किसी दूसरे रूप में, अथवा कोई दूसरा मसला खड़ा न हो जाय। अस्तु हिन्सा से राज्यान्तर या सत्ता-परिवर्तन भले ही हो, शासन-मुक्ति नहीं होती। इस बात का बराबर विचार न रहने से समाज को बड़ी क्षति सहनी पड़ती है। श्री किशोरीलाल मश्रूवाला ने कहा है—"अगर युगों के अनुभवों से हम यह बड़ा सबक सीख सकें कि हिन्सा के द्वारा कोई स्थायी हित नहीं सिद्ध किया जा सकता या सिद्ध हुआ है और समाज में महान क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए हमें अहिन्सक तरीका—ऐसा तरीका जो स्वेच्छा से किये जाने वाले त्याग और मानव प्रेम की बुनियाद पर खड़ा है—ही खोजना चाहिए तो हम महान से महान खूनी क्रान्तियों के वनिस्बत ज्यादा निश्चित रूप से सर्वोदय की स्थापना कर सकेंगे।"

शासन-मुक्त समाज की स्थिति में अराजकता की आशंका ठीक नहीं—बहुत से आदमियों को यह अन्देशा है कि शासन-मुक्त समाज में अराजकता होगी अर्थात् लोगों के जानमाल का खतरा होगा। परन्तु यह खतरा उसे होता है जिसके पास कुछ जोखिम हो। सवाल यह है कि समाज में कितने आदमियों के पास माल या जोखिम है। जब कि सौ में से कम से कम अस्सी आदमियों के पास सम्पत्ति नहीं है तब अव्यवस्था का क्या डर!

श्री दादा धर्माधिकारी ने लिखा है[१]— 'आमतौर से साठ से अस्सी गांवों के दायरे में पुलिस का एक थाना होता है, जिसमें मुश्किल से दस सिपाही रहते हैं। यदि आठ-दस आदमियों को सारे हल्के का बन्दोबस्त करना पड़ा तो लोगों की मदद के बिना वे बन्दोबस्त कर ही कैसे सकते हैं! मतलब यह कि आज समाज में हम जो शान्ति और व्यवस्था देखते हैं, वह एक अंश में शासन की बदौलत हो सकती है, लेकिन बहुत बड़ी मात्रा में उसका आधार लोक-स्वभाव ही है। अधिकतर लोगों को दंगा-फसाद या लड़ाई-झगड़े से शौक नहीं होता। जहां तक हो सके वे हिलमिल कर रहना चाहते हैं। इसलिए गांव बसा कर रहते हैं। साथ रहना, साथ काम करना, साथ खाना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। थोड़े से आदमी जब बहुसंख्यक लोगों की मेहनत के भरोसे चैन करना चाहते हैं तब उन्हें अपने बचाव के लिए और अपने संग्रह की हिफाजत के लिए शासन और प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। मार्क्स ने जो कहा था कि शासन-संस्था सुप्रतिष्ठित वर्ग का औजार बन जाती है, उसमें बहुत तथ्य है। आज जब कि सौ में से अस्सी आदमियों के पास ऐसी कोई चीज ही नहीं है जिसे देख कर दूसरों का जी ललचाए, तो सारा शासन और सारी व्यवस्था मुट्ठी भर आदमियों की माल मिल्कियत की हिफाजत का औजार बन जाती है। जब तक शासन और व्यवस्था विषमता के संरक्षण का साधन है, तब तक साधनहीन मानव के लिए वह कोई महत्व नहीं रखती। इसलिए हमें अराजकता का अन्देशा होता है। असल में आज कानूनी और संविधान-सम्मत अराजकता है, क्योंकि इसमें मुट्ठी भर आदमियों का संरक्षण सर्वसाधारण जनता से करना पड़ता है।

---

[१]'राजस्थान', १७-११-५४

'शासन-मुक्त समाज का आदर्श जो लोग उपस्थित करते हैं, वे आज की संविधान-विहित विषमता के निराकरण का प्रयास भी साथ-साथ करते हैं। इसलिए उन्हें अंधेरगर्दी का डर नहीं है। आज की परिस्थिति में तो शासन और सुप्रबन्ध से दलित और पीड़ित मानव को कोई लाभ ही नहीं है। इसलिए अराजकता के हौए स वह नहीं डरता। इस मूलभूत प्रश्न की दृष्टि से यदि हम लोग विचार करेंगे, तो सुशासन और सुप्रबन्ध के बहुत कायल नहीं रह सकेंगे।'

विशेष वक्तव्य—आदर्श यह है कि मनुष्य का ऐसा विकास हो जाय कि वह किसी बाहरी शक्ति या संस्था के दबाव के बिना, अपनी इच्छा से ही अपना सब कार्य अच्छी तरह करे; जिस सीमा तक उस पर किसी का दबाव होगा, उस सीमा तक वह परतंत्र है, स्वराज्य-प्राप्त नहीं है। मनुष्य का ऐसा विकास आदर्श ही है। तथापि उसे सामने रखते हुए तथा उसकी ओर उत्तरोत्तर बढ़ने के लिए व्यवहारिक मार्ग निकालना चाहिए। हमें ऐसा समाज बनाने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए जिसमें शासन अल्पतम अर्थात् कम से कम रहे और उसकी, प्रति दिन आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए, जरूरत न पड़े। जीवन की अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं-पूर्ण ग्राम-इकाइयों द्वारा हो जाय, शासन का काम केवल उन इकाइयों को एक सूत्र में बांधने का हो, जैसे माला के दानों को एकत्र रखने का काम सूत्र करता है। अस्तु, शासन जनता के रोजमर्रा के कामों में कुछ हस्तक्षेप न करे, यहां तक कि लोगों को अपने साधारण व्यवहार में उस ओर ध्यान देने की आवश्यकता न हो, केवल विशेष अवस्थाओं में, खास संकट उपस्थित होने पर ही शासन का उपयोग हो; जैसे रेलगाड़ी में खतरे की जंजीर का स्थान होता है। यात्री सफर करते रहते हैं, उन्हें जंजीर से कुछ वास्ता नहीं होता। जब कोई दुर्घटना या संकट की बात होती है, तभी जंजीर की याद आती है।

सर्वोदय में राज्य का स्वरूप और गठन कैसा होगा, इसका विचार अगले खंडों में किया जायगा। इस खंड में एक और बात का विचार करना है।

———

सातवां अध्याय

सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व

कानून में या समाज की मान्यता में जो व्यक्तिगत मालिकी हक की विचार-धारा चल रही है, उसमें परिवर्तन होना जरूरी है अर्थात् इस धारणा पर आना होगा कि अधिक सम्पत्ति व्यक्ति की न रहकर, समाज के हित के लिए हो। कानून और मान्यता के अतिरिक्त न्याय भी एक चीज है, जो सर्वोपरि है; उसका अधिकार कोई मेंट नहीं सकता।

—श्रीकृष्णदास जाजू

जिस पृथ्वी पर आज हम खेती करते हैं, उसके प्रत्येक इंच पर बेगार, जानमार मेहनत और अनेक कष्टों की करुण कहानी लिखी है। खानों की दीवारों पर आज भी मजदूरों के कुदालों के चिन्ह चमक रहे हैं। सभी पदार्थ सभी के सम्मिलित परिश्रम और प्रयत्नों के परिणाम हैं। इसलिए सभी वस्तुएँ सभी की हैं। प्रत्येक अनुसंधान और प्रत्येक आविष्कार में, मानव जाति और मानव सम्पत्ति की प्रत्येक प्रगति में, भूत और वर्तमान के मानव का सम्मिलित मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम सन्निहित है। अतः किसी को अधिकार नहीं कि सम्पूर्ण वस्तु का एक कण भी छीन कर कह सके कि यह मेरा है, इस पर केवल मेरा ही अधिकार है; तुम्हारा नहीं।

—प्रिंस क्रोपाटकिन

पहले बताया गया है कि सर्वोदय समाज में व्यक्ति कैसा होना चाहिए, और समाज का आदर्श क्या है। यदि दोनों अपनी मर्यादा का ध्यान रखें और अपना ठीक-ठीक कर्तव्य पालन करें तो दोनों के आपसी सम्बन्धों के विषय में कोई विवाद उठने की गुंजायश न हो। उस दशा में ऐसा प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा कि सम्पत्ति पर स्वामित्व अधिकार किसका माना जाय, व्यक्ति का या समाज का। परन्तु वर्तमान

अवस्था अभीष्ठ स्थिति से बहुत दूर है और सम्पत्ति के स्वामित्व के विषय में घोर विवाद है, इसलिए इस विषय का विचार करना बहुत आवश्यक है।

सम्पत्ति पर स्वामित्व समाज का या व्यक्तियों का? पहला मत—बहुत प्राचीन काल में भारतीय विचारकों ने कहा था—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्।' इसी भाव को ग्रहण करके हिन्दी जगत प्रार्थना में कहता है—

> **ईश का आवास यह सारा जगत**
> **जीवन यहाँ जो कुछ उसी से व्याप्त है।**
> **अतएव करके त्याग उसके नाम से,**
> **तू भोगता जा वह तुझे जो प्राप्त है॥**
> **धन को किसी के भी न रख तू बासना॥**

हिन्दी कवि का कथन है—

'सबै भूमि गोपाल की।'

और

'सम्पति सब रघुपति कै आही।'

भूमि आदि सम्पत्ति ईश की कहो, या गोपाल की या रघुपति की, बात एक ही है। इस विचारधारा के अनुसार सम्पत्ति पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं, यह भगवान की है, और भगवान का साकार रूप तो यह सृष्टि और खास कर मानव समाज है। इस प्रकार सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व माना गया है। योगिराज अरविन्द के अपनी पत्नि श्रीमती मृणालिनी देवी को लिखे एक पत्र का अंश है कि 'भगवान ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, वह सब भगवान का है। यदि मैं सब कुछ अपने लिए, सुख के लिए, भोगविलास के लिए खर्च करूं तो चोर कहलाऊँगा। इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, मेरे तीस कोटि भाई-बहिन इस देश में हैं, उनमें से बहुतेरे अन्न न होने से मर रहे हैं, उनका हित करना होगा।'

इस प्रकार की बातें भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के विचारकों ने भी कही हैं। आधुनिक काल में जो समाजवाद और साम्यवाद की लहर आयी है, उसके अनुसार भी कितने ही समाज-सूत्रधार यह कहने लगे हैं कि सब सम्पत्ति वास्तव में समाज की है, उसका समाजीकरण या राष्ट्रीकरण होना चाहिए।

दूसरा मत—परन्तु सर्वसाधारण की, अधिकांश लोगों की विचारधारा यही रही कि ऐसी बातें केवल कहने-सुनने की हैं। ये संतों, साधुओं या महापुरुषों के लिए हैं। संसारी आदमियों के काम की नहीं। साधारणतया आदमी सोचता और कहता है कि अमुक मकान मैंने बनवाया, या अपने पैसे से बनवाया, अमुक सम्पत्ति मैंने पैदा की या अपने माता-पिता से प्राप्त की। इस पर मेरा अधिकार है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार दैवी और पवित्र है। व्यक्ति का यह हक है कि वह अपनी सम्पत्ति का उपयोग जैसा उचित समझे करे और जितना चाहे संग्रह करे। इसमें किसी दूसरे का क्या दखल हो सकता है!

क़ानून और समाज-मान्यता—दूसरे मत के समर्थकों का कहना है कि जो सम्पत्ति समाज की मान्यता के अनुसार किसी व्यक्ति की है, तथा जिसे कानून भी उसको मानता है उसके सम्बन्ध में उस व्यक्ति का अधिकार हटाने की बात कैसे उचित कही जा सकती है। जैसा कि श्री श्रीकृष्णदास जाजू ने लिखा है, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें कानून और समाज-मान्यता का मूल्य आंकना होगा। भूलना न चाहिए कि कानून और मान्यता से भी ऊपर एक चीज न्याय है। उसका अधिकार कोई मेट नहीं सकता, क्योंकि उसकी जड़ बाहर न होकर अन्तरंग में, आत्मा में, मनुष्य की सद्विवेक बुद्धि में है। इस सम्बन्ध में यह बात ख्याल में रखनी चाहिए कि किसी समय विशेष में समाज की या कानून की जो धारणा रहती है, वह ठीक ही रहती है, ऐसा नहीं है। कानून तो बहुधा प्रचलित परम्परा लेकर चलता है। समाज की मान्यता भी बहुत करके रूढि को लेकर चलती है। जो बात कानून या समाज मानता है, वह सदा न्याय की ही नहीं होती। दीर्घ काल के इतिहास का परीक्षण करने से मालूम होगा कि एक जमाने में जो मान्यताएं सही मानी जाती थी, उनमें समय पाकर आमूल परिवर्तन हो गया। मान्यताओं के बदलने के साथ कानून भी बदल गया। जब तक मान्यता चलती रही, तब तक उसके सही होने में शंका नहीं थी। अगर थोड़ों के मन में शंका रही होगी तो उसका उस समय की विचारधारा पर कोई असर नहीं पड़ा। समय पाकर विवेक जागृत हुआ। मानवता ने देखा कि जो बात आज मानी जाती है, वह घोर अन्याय-पूर्ण है। अन्त में परिवर्तन होकर

रहा। मान्यता बदलने पर राजसत्ता को कानून भी बदलना पड़ता है, अन्यथा वह खुद उलट जाती है।[1]

सम्पत्ति कैसे बनती है ?—सम्पत्ति के स्वामित्व के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सम्पत्ति कैसे बनती है। स्मरण रहे कि आदमी जो नोट या सिक्के आदि को सम्पत्ति कह दिया करते हैं, वह ठीक नहीं है। ये सम्पत्ति के विनिमय के माध्यम मात्र हैं। असली सम्पत्ति तो अन्न वस्त्र आदि जीवन-पोष्य या जीवन रक्षक पदार्थ हैं। जैसे भोजन, वस्त्र, मकान आदि। इनकी पैदावार के दो मुख्य साधन हैं—(१) भूमि, जल हवा धूप आदि सृष्टि के पदार्थ और (२) मनुष्य का शरीर श्रम। औजार और यंत्रों से सम्पत्ति उत्पन्न करने में सहायता मिलती है, पर इनको बनाने और चलाने में भी शरीर-श्रम की जरूरत होती है। इस प्रकार सम्पत्ति को उत्पत्ति का साधन, सृष्टि के पदार्थों के अतिक्ति मनुष्य का शरीर-श्रम है। सारी सम्पत्ति को किसान और मजदूर आदि पैदा करते हैं। पर वर्तमान अवस्था में हम देखते हैं कि इन लोगों के पास सम्पत्ति बहुत कम होती है, उसके अधिकांश भाग पर थोड़े से आदमी अधिकार जमाये हुए हैं। क्या यह उचित है ?

भूमि को उपयोगी बनाने में समाज का हाथ—भूमि को भी आजकल सम्पत्ति माना जाता है। पहले इसके विषय में ही विचार करें। यह तो स्पष्ट ही है कि अपने मूल रूप में भूमि मनुष्य की बनाई हुई नहीं है। यह भगवान की देन है। वैज्ञानिक भाषा में कहें तो हवा पानी और प्रकाश की तरह यह प्रकृतिदत्त है। यह आदमी की आजीविका का साधन है, वह इसे जोतें-बोये यह ठीक है। पर कोई आदमी इसे न जोतते-बोते हुए भी इसे दबाकर क्यों रखे ? यह सब की माता है, सब इससे भरण-पोषण प्राप्त करें, पर कोई व्यक्ति इसका मालिक बनने की धृष्टता क्यों करे !

एक बात और। हम इस समय भूमि की उपयोगिता का जो लाभ उठा रहे हैं, यह भी समाज की सहायता से ही सम्भव हुआ है। किस-किस तरह की जमीन में क्या-क्या चीजें पैदा हो सकती हैं, जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए क्या-क्या उपाय

---

[1]देखिए, 'सम्पति-दान-यज्ञ'

काम में लाने चाहिएँ, इन बातों का ज्ञान आदमी की अनेक पीढियों ने लगातार शोध करके प्राप्त किया है। खेती के औजार बनाने में अनेक आदमियों का श्रम और बुद्धि लगी है। इतना होने पर ही आदमी खेती का उपयोग करने की स्थिति में आया है। कोई अकेला आदमी ये सब कार्य नहीं कर सकता। इसलिए भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व होना अनुचित है।

अन्य सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व—भूमि के ईश्वर द्वारा बनायी हुई या प्रकृति-दत्त होने की बात सहज ही समझमें आ सकती है। पर अन्य सम्पत्ति के भी ऐसी ही होने की बात इतनी स्पष्ट नहीं होती। उदाहरण के लिए कारखानों या मकानों आदि के बारे में कहा जाता है कि जिन लोगों ने इनके लिए पूँजी लगायी है, वे ही इनके मालिक हैं, और इन्हें ही मालिक समझा जाना चाहिए। इसके सम्बन्ध में श्री विनोबा ने कहा है कि 'कोई व्यक्ति पूंजी लगा देने से ही उनका मालिक नहीं बन जाता। क्योंकि ऐसे व्यक्ति समाज की उपज होते हैं, इसलिए उनका सारा धन सभी समाज का है।' यह ठीक है कि वे इस काम में अपना दिमाग लड़ाते हैं, लेकिन और भी हैं, जो मेहनत करते हैं। अतएव उनमें से सबको एक जैसा लाभ होना चाहिए, फिर चाहे वे बौद्धिक श्रम करनेवाले हों अथवा शारीरिक श्रम'

किसी भी प्रकार की सम्पत्ति हो, कोई आदमी अकेला ही उसका उत्पादन नहीं कर सकता। उसे बहुत से आदमियों के सहयोग या सहायता की जरूरत होती है। किसी उद्योग धंधे में जिन औजारों की जरूरत होती है, वे जुदा-जुदा आदमियों के बनाये हुए होते हैं। हमारे पूर्वकालीन लोगों ने यह मालूम किया कि अमुक वस्तु इस तरह बनायी जा सकती है। हम उनके आविष्कारों से लाभ उठा रहे हैं, और अपने समकालीन अनेक संगी साथी तथा अन्य लोगों के सहारे विविध वस्तुओं को बना रहे हैं। हम यातायात के साधनों का उपयोग करते हैं, रक्षा के लिए पुलिस और कानून आदि की सहायता लेते हैं। तभी तो हम कुछ उत्पादन कर पाते हैं। ऐसी दशा में हमारा अकेले ही किसी सम्पत्ति के स्वामी होने का दावा कैसे उचित या नैतिकतायुक्त कहा जा सकता है। प्रत्येक सम्पत्ति समाज ने बनायी है, इसलिए उस पर समाज का ही अधिकार है, जिसके एक अंश—केवल एक अंश—हम हैं।

बौद्धिक कार्य करने वालों की बात—वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, अध्यापक, लेखक, जज, क्लर्क, राजकर्मचारी आदि भी जिस सम्पत्ति को उपार्जित करनेवाले

कहे जाते हैं, उसे वे अकेले, केवल अपने ही बल पर तो पैदा नहीं करते। वे समाज में रहते हैं, समाज की सुविधाओं से लाभ उठाते हैं, तभी तो उनकी कुछ आय होती है। बिना समाज की सहायता के तो उनका निर्वाह ही नहीं हो सकता। फिर, उन्होंने जो बुद्धि प्राप्त की है, वह कहां से प्राप्त की है ? वे जिन संस्थाओं में पढे हैं, वे या तो सरकार द्वारा संचालित हैं, या कुछ खास व्यक्तियों या संस्थाओं द्वारा; दोनों ही दशाओं में समाज का द्रव्य उनके लिए खर्च हुआ है। यदि कोई बौद्धिक कार्यकर्ता शिक्षा संस्थाओं में नहीं पढ़ा है, और उसने निजी तौर पर ही ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया है तो भी वह उसके लिए अपने माता-पिता, संगी-साथियों, गुरुजनों, अपने पूर्वजों तथा कुछ अंश में दूसरे देश वालों का भी ऋणी है। संक्षेप में समाज का ऋणी हुए बिना, कोई व्यक्ति जीवित ही नहीं रह सकता, फिर उसके सम्पत्ति पैदा करने की तो बात ही क्या !

सम्पत्ति समाज को अर्पण करना, समाज के ऋण से उऋण होना है—इस प्रकार, किसी भी तरह की सम्पत्ति हो, वह किसी व्यक्ति की निजी मिल्कियत नहीं। सब सम्पत्ति समाज की अनिवार्य सहायता से बनी है। इसलिए उस पर समाज का अधिकार है। वह समाज के काम आनी चाहिए। जो आदमी अपनी कही जाने वाली सम्पत्ति में से दूसरों को कुछ देता है तो वह दूसरों पर उपकार करने, खैरात करने या दान देने आदि का दावा न करे। वह केवल समाज का ऋण चुकाता है; यहां तक कि सर्वस्व दे डालने वाला भी केवल अपना ऋण ही अदा करता है। किसी के ऋण से उऋण होना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य ही है। इस प्रकार कोई व्यक्ति 'अपनी' सम्पत्ति समाज को अर्पित कर दे या उसका उपयोग, उसे समाज की समझता हुआ, समाज के हित में करे तो इसमें अहंकार कैसा ! कहा गया है—

मेरा यहां पर कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझ को सौंपता, क्या लागत है मोर॥

सम्पत्ति में व्यक्ति का हिस्सा—व्यक्ति भी समाज का अंग है, उसने भी (समाज की सहायता से) सम्पत्ति पैदा करने में भाग लिया है, इसलिए उत्पन्न सम्पत्ति में उसका भी हिस्सा है। यह हिस्सा कितना हो, यह उत्पन्न सम्पत्ति के परिमाण के सिवा व्यक्ति की आवश्यकताओं का विचार करके तय किया

जा सकता है। किसी व्यक्ति को कितना भोजन, कितना वस्त्र, कितना मकान आदि चाहिए, इसका विचार करते हुए यह ध्यान रखना होगा कि जिस समाज रूपी परिवार का वह सदस्य है उस समाज के दूसरे सदस्यों को वे पदार्थ कहां तक मिलते हैं। भूख-प्यास आदि अधिक होने या बीमारी और बुढ़ापे आदि की कुछ विशेष दशाओं में किसी व्यक्ति की आवश्यकताएँ औसत दर्जे के आदमियों से कुछ कम ज्यादा हों तो उसे मिलने वाले हिस्से का परिमाण कुछ घट बढ़ सकता है।

परिग्रह सामाजिक अन्याय है—इस विचारधारा को मानने से अपरिग्रह की बात स्वयं ही आ जाती है। अपरिग्रह का अर्थ है, अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह न करना, अपनी जरूरतों के अनुसार ही रखना। कुछ आदमी कहा करते हैं कि जरूरतों का निश्चय कैसे हो, यह कौन तय करे कि अमुक वस्तु किसी के लिए आवश्यक है या नहीं। जरा विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि यह कोई बहुत जटिल समस्या नहीं है। मोटी मोटी बातों में कोई मतभेद की गुंजायश नहीं है। शरीर-निर्वाह और भरण-पोषण के लिए आवश्यक सामान जुदा-जुदा आदमियों को अलग-अलग परिमाण में चाहिए, पर उसकी सीमा है। एक आदमी दूसरे आदमियों से बीस-तीस गुना नहीं खा सकता। पहनने के कपड़ों की आवश्यकता भी परिमित ही होती है। मोटे आदमी के कुर्ते, पाजामे आदि में कपड़ा अधिक खर्च होगा, पर एक आदमी को दर्जनों जोड़ी कपड़े की क्या जरूरत है, जो अलमारियों या सन्दूकों में रखे रहते हैं, अथवा इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। भोजन विश्राम आदि के लिए रहने के वास्ते मकान की आवश्यकता भी अपरिमित नहीं। कितने ही आदमियों ने दस-दस बीस-बीस कमरों वाले विशाल भवनों पर अधिकार कर रखा है, और कितने ही तो कई-कई मकानों के मालिक बने हुए हैं। जबकि हमारे बहुत से भाइयों को उनकी शारीरिक आवश्यकता के अनुसार भी भोजन वस्त्र न मिलता हो, वे भूखे नंगे रहते हों, जबकि हजारों लाखों आदमी खुले आसमान के नीचे, सड़कों के किनारे या बस्ती से बाहर सोते हों, उपर्युक्त परिग्रह या संग्रह एक घोर सामाजिक अपराध माना जाना चाहिए। कितने ही आदमी अपने अपने खाने-पहिनने में बहुत सादगी रखते हैं, तो भी बहुत सा सामान या धन जोड़कर रखने के इच्छुक रहते हैं। वे सोचते हैं कि

हमारे पास इतना जमा रहे कि अधिक से अधिक समय तक वह हमारे काम आये; यही नहीं, हमारी सन्तान (तथा रिश्तेदारों) को भी उम्र भर के लिए काफी हो। बहुत से आदमियों के सन्तान नहीं होती तो भी उनसे धन सम्पत्ति का मोह नहीं छूटता। सम्भवतः इसमें उनकी भावना यह हो कि धनी होने से हमारी समाज में प्रतिष्ठा या आदर-मान बना रहेगा। पर यह सामाजिक अन्याय ही है।

अपरिग्रह की आवश्यकता—परिग्रह ने हमारा सामाजिक जीवन बहुत संकटमय बना दिया है। गांधीजी के शब्दों में 'धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं। दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता भर को ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो और सब को संतोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव-करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे संतोष नहीं होता। कंगाल करोड़पति होना चाहता है, उसे पेट भरने को ही पाकर संतोष होता दिखायी नहीं देता। परन्तु कंगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने संतोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के काम भर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष संतोष का सबक सीखें।'[१] इस प्रकार लोकहित के लिए अपरिग्रह की आवश्यकता स्पष्ट है।

अपरिग्रह को व्यापक बनाना है—प्राचीनकाल में अपरिग्रह का धर्म केवल भिक्षुओं और संन्यासियों के लिए ठहराया गया था; व्यक्तियों के लिए संग्रह मान्य किया गया था। उस समय समाज-रचना ही ऐसी थी। अब समय बदल गया है। अब अपरिग्रह को व्यापक बनाना है। विनोबा ने कहा है—'असंग्रह समाज-धारणा का आधार है, यों समझकर समाज को इस गुण का शिक्षण देने का समय आया है। असंग्रह के माने हैं कि समाज में तो खूब संग्रह रहेगा, पर व्यक्ति की मालकियत नहीं रहेगी। आज तक की कल्पना यह है कि मेरा संग्रह मेरे घर में है। अब कल्पना यह होनी चाहिए कि मेरा संग्रह घर-घर में है और हरेक का संग्रह मेरे घर में है।

---

[१] **'मंगल प्रभात'**

असंग्रह माने व्यापक संग्रह यानी सम-विभाजन। बुद्ध भगवान कहा करते थे कि जितनी भी रोटी खाएँ, एक खाएँ या आधी, वह बाँट कर खाएँ। उन्हीं का आधार लेकर हम यह चीज समाज में करना चाहते हैं।"[१]

आर्थिक समता, और सम्पत्ति का सम्यक् विभाजन—यहां आर्थिक समता का भी कुछ विचार कर लेना उपयोगी होगा। गांधीजी ने इसे 'अहिन्सक स्वराज्य की सर्वोपरि चाबी' कहा है। आगे दिये हुए उनके लेखांश से इस पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'आर्थिक समता आन्दोलन का अर्थ है पूँजी और श्रम के शाश्वत संघर्ष का अन्त करना। इसका अर्थ है एक ओर तो उन मुट्ठीभर धनिकों की सम्पत्ति कम करना जिनके हाथ में राष्ट्र की दौलत का एक बहुत बड़ा हिस्सा इकट्ठा हो गया है और दूसरी ओर करोड़ों भूखे नंगों की आय में वृद्धि करना। जब तक धनिक और करोड़ों भूखों के बीच की चौड़ी खाई बनी रहती है अहिंसक राज व्यवस्था निस्संदेह ही असंभव है। आजाद हिंदुस्तान में चूंकि गरीब के वही अधिकार रहेंगे जो देश के सबसे अधिक मालदार के होंगे, इसलिए उस समय दिल्ली के महलों और उन्हीं के पास बसे हुए गरीब मजदूरों के टूटे-फूटे झोपड़ों का यह दर्दनाक फर्क एक दिन भी नहीं टिक सकेगा। जब तक दौलत और दौलत के कारण मिलने वाली सत्ता का लोग स्वेच्छा से त्याग करके जन साधारण की भलाई में उन्हें नहीं लगाते हैं हिंसक और खूनी क्रान्ति रुकना संभव नहीं।' ट्रस्टीशिप का आशय यह है कि आदमी के पास उसकी अनिवार्य आवश्यकता से जितना द्रव्य आदि अधिक हो, उसे वह अपने निजी उपयोग के लिए न माने, उसे वह समाज की धरोहर के रूप में रखे और इस दृष्टि से उसका (लोकहितकारी कार्यों में) इस्तेमाल करे।

सम्पत्ति का सम्यक विभाजन अहिन्सात्मक पद्धति से किस तरह हो, इस विषय में गांधीजी ने लिखा है—"इसकी ओर पहला कदम उस व्यक्ति का होगा जिसने अपने व्यक्तिगत जीवनमें आवश्यक परिवर्तन लाने के लिए इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है। वह हिंदुस्तान की गरीबी का ध्यान रखते हुए अपनी आवश्यकताओं को कम से कम कर लेगा। उसकी कमाई में किसी तरह की बेई-मानी नहीं होगी। सट्टे की इच्छा को वह त्याग देगा। उसका घरबार उसकी नयी

---

[१] 'ग्रामराज', १ नवम्बर १९५४

रहन सहन के अनुकूल होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मसंयम से काम लेना होगा। अपने जीवन में जितना संभव है उतना कर लेने के बाद ही कोई व्यक्ति अपने साथी और पास पड़ोसियों में इस आदर्श का प्रचार कर सकता है।

'यदि सब प्रकार के प्रयत्नकर चुकने के बाद भी दौलत वाले सही अर्थ में गरीबों के संरक्षक नहीं बनते और वे अधिकाधिक कुचले और भूखों मरते जाते हैं तब क्या होना चाहिए ? इस पहेली को सुलझाने का प्रयत्न करते हुए मुझे अहिंसक असहयोग और सविनय आज्ञाभंग सही और अचूक साधन के रूप में मिले हैं। दौलतमंद समाज के गरीब आदमियों के सहयोग बिना दौलत इकट्ठी नहीं कर सकता। यदि गरीब आदमी इस बात को समझलें और उनमें इसका प्रचार हो जाय तो वे मजबूत बन जाएं और भुखमरी की हदतक पहुँचा देनेवाली दर्दनाक असमानताओं से किस प्रकार अहिंसात्मक ढंग से मुक्त हो सकते हैं इसे वे सीख लें।'

व्यवहारिक प्रयोग—पूर्व विवेचनसे स्पष्ट है कि सम्पत्ति के समाज-स्वामित्व की भावना का प्रचार करना और उसे अमली रूप देना आवश्यक है। भारत में भूदान-यज्ञ और सम्पत्ति-दान-यज्ञ द्वारा उसका वातावरण बनाया जा रहा है। विनोबा बड़े-बड़े मालिकों से ही नहीं, छोटे-छोटे मालिकों से भी जमीन और सम्पत्ति का भाग लेकर यह विचार फैला रहे हैं कि इन चीजों पर किसी व्यक्ति का स्वमित्व अधिकार नहीं। इनमें सब का साझा है; ये समाज की है। दादा धर्माधिकारी के शब्दों में 'सम्पत्तिदान है संग्रह के विसर्जन के लिए, भूमिदान है मालकियत की समाप्ति के लिए। जमीन बेजमीनों को बांटी जा सकती है। कारखाने इस तरह बांटे नहीं जा सकते। उनकी मालकियत मजदूरों को हस्तान्तरित कर देने से सिर्फ मालकियत का दायरा बढ जायगा, उसका खात्मा नहीं होगा। इसलिए जो भी केन्द्रित उद्योग चलें, वे राष्ट्र की मालकी के ही हो सकते हैं।'

यदि आज भारत के कुछ हजार आदमी भी इस विचार को उचित और व्यावहारिक मानते हैं और इस दिशा में अपना जीवन लगाने के लिए तैयार हो गये हैं तो यह काफी सबूत है कि हवा का रुख किधर है। भारत से बाहर अन्य देशों के आदमी भी इससे प्रभावित हो रहे हैं। वहां भी इस दिशा में अच्छी प्रतिक्रिया होनेवाली है। इस प्रकार सम्पत्ति पर समाज के स्वामित्व होने की बात किसी स्वप्नदर्शी की आवाज नहीं है, वरन् एक व्यावहारिक शुभ सूचना है।

विशेष वक्तव्य—सम्पत्ति के उपयोग और अधिकार के प्रसंग में हमें अपने समय के समाज के अतिरिक्त भावी पीढ़ियों के भी हित का ध्यान रखना जरूरी है। जैसा कि श्री जवाहिरलाल जैन ने लिखा है—'दुनिया और समाज की स्थिति सराय की है, जहां व्यक्ति आता है और चला जाता है। उसे सारा सामान सजा सजाया मिलता है। निश्चय ही इस सारे सामान का मालिक होने का दावा वह नहीं कर सकता, वह केवल उसका ट्रस्टी है। उसका कर्त्तव्य है कि वह उसका यथोचित और दूरदर्शिता-पूर्ण उपयोग करे, लेकिन इस प्रकार व्यय करे कि कुल मिला कर जिस स्थिति में दुनिया का साज सामान उसने पाया था उससे अच्छी हालत में वह उसे छोड़ जाय।'[१]

---

[१] 'आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम'।

तीसरा खंड

सर्वोदय में राज्य का स्वरूप

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिए। हर एक गांव में पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता या ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गांव को अपने पांव पर खड़ा होना होगा—अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके, यहां तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी हिफाजत या रक्षा करते हुए मर मिटने के लायक बन जाए। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाए; या उसकी राजी खुशी से दी हुई मदद न ली जाए। ख्याल यह है कि सब आजाद होंगे और सब एक दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे।

—गांधी जी

आठवां अध्याय

राज्य और व्यक्ति

लोकतंत्र का आधार इस बात पर है कि व्यक्ति के अन्दर, उसके स्वभाव में ही समाज के जीवन का सहकारी अंग बन कर रहने की प्रेरणा देने वाली प्रवृत्ति पड़ी है, जिसमें उसे किसी बाहरी शासन की आवश्यकता नहीं होती।

—मगनभाई देसाई

जनतंत्र मनुष्य की महानता को स्वीकार करता है और प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का समान महत्व है, यह इसकी आधारभूत मान्यता है।

—प्रेमनारायण माथुर

सर्वोदय व्यवस्था में राज्य और व्यक्ति का आपस में क्या सम्बन्ध रहेगा, राज्य में व्यक्ति का स्थान क्या होगा, और वह उस पर कहां तक नियंत्रण करेगा—इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि क्या राज्य स्वयं एक साध्य है, अथवा वह किसी अन्य साध्य के लिए एक साधन मात्र है, और यदि राज्य साधन है तो वह साध्य क्या है जिसके लिए राज्य एक साधन है।

एक पक्ष; राज्य स्वयं साध्य है—प्राचीन काल में बहुत से राजनीतिज्ञ राज्य को एक ईश्वर-निर्मित या दैवी संस्था मानते थे। इसलिए वे राज्य को साध्य के रूप में देखते थे; राज्य से ऊपर कोई दूसरी वस्तु है जिसके लिए राज्य साधन हो—यह उनकी कल्पना से बाहर था। उनके विचार से राज्य व्यक्ति के जीवन में पूरे तौर से हस्तक्षेप करने का अधिकारी है। ऐसे भी राजनीतिज्ञ रहे हैं जो राज्य को दैवी संस्था न मानते हुए भी उपर्युक्त विचारधारा के पूरे समर्थक रहे हैं। उनका सिद्धान्त था कि राज्य के बिना मनुष्य का नैतिक जीवन असम्भव है, इसलिए राज्य स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। व्यक्ति के सारे अधिकार इसी में है कि वह राज्य

की सब आज्ञाओं का, बिना किसी तर्क वितर्क के पालन करे। राज्य की वेदी पर व्यक्तित्व को समर्पण करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। सब कुछ राज्य में, और राज्य के लिए; राज्य के बाहर कुछ भी नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं।

दूसरा पक्ष; राज्य एक साधन है—इसके विरुद्ध दूसरा मत—जो अपेक्षाकृत आधुनिक है—यह है कि राज्य को स्वयं एक साध्य मानना गलत है। मनुष्य में काम क्रोध, लोभ मोह अहंकार आदि विविध विकार हैं। इसलिए वह अपनी इच्छा से, बिना किसी दबाव या भयके, समाज में अपना कर्तव्य ठीक तरह पालन नहीं करता; नहीं कर सकता। इससे समाज में अव्यवस्था फैलती है। समाज-कार्य सुचारु-रूप से चलाने के लिए मनुष्य पर नियंत्रण करनेवाली संस्था की आवश्यकता है। राज्य ऐसे ही अंकुश का कार्य करता है। इस प्रकार मनुष्य की अपूर्णता या अविकास की दशा में उसकी आवश्यकता है। वह रहना चाहिए। परन्तु इस बात की यथेष्ट व्यवस्था रहे कि उसका व्यक्ति पर उतना ही नियंत्रण हो, जितना अत्यन्त आवश्यक हो, यह नियंत्रण धीरे-धीरे कम होते रहना चाहिए। व्यक्ति का विकास ऐसा होता रहे कि वह समाज के प्रति सब कर्तव्यों का स्वेच्छापूर्वक पालन करे। इस दृष्टि से राज्य वही अच्छा समझा जाता है, जो कम से कम शासन करे।

वर्तमान स्थिति; राज्य में व्यक्ति का लोप—वर्तमान स्थिति में राज्य की शक्ति बहुत बढ़ी हुई है। उसके सामने व्यक्ति नगण्य सा हो गया है। विज्ञान से मिलनेवाली सुविधाओं ने राज्य का विस्तार बहुत बढ़ा दिया है। चन्द लोगों के हाथ में बड़ी-बड़ी जनसंख्या वाले समाज का भाग्य सुपुर्द है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता संकुचित और बहुत सीमित हो गयी है। यह जनतंत्र की मूल भावना पर आघात करनेवाला है। जैसा कि आचार्य कृपलानी ने एक लेख में बताया है, इस समय लोकतंत्रों में भी सत्ता का बड़ा संचय हो रहा है। इसका कारण केन्द्रित आर्थिक उत्पादन है, जिसका आविष्कार पूंजीवादी व्यवस्था के निजी लाभ के सिद्धांत से हुआ। साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न क्रान्ति इसका कारण है। साम्यवादी व्यवस्था में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के साथ-साथ केन्द्रित शासन का भी महत्व बढ़ा, क्योंकि बड़े राष्ट्रीय उद्योगों, राज्य की विस्तृत सीमाओं, विश्वव्यापी युद्ध के समय की संकटापन्न अवस्थाओं और शान्ति-काल की तैयारियों के लिए यह सब आवश्यक है।

आज राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। अन्य ऐसी संस्थाओं का अस्तित्व, जिनका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं, नाम मात्र को रह गया है। इससे राजसत्ता का बहुत विस्तार हुआ है। किसी स्वेच्छाचारी सम्राट् को भी इतनी सत्ता नहीं मिली, जितनी आजकल की केन्द्रिय सरकारों के हाथ में है। लोकतंत्र का भी यही हाल है। साधारण नागरिक इन परिस्थितियों से व्याकुल है। मताधिकार के रूप में उसे जो थोड़ी सी सत्ता दी गयी है, उससे वह दिन पर दिन बढ़ने वाली राज्यशक्ति का बाल भी बांका नहीं कर सकता।

गांधीजी का मार्ग-दर्शन--इस शोचनीय स्थिति का अन्त करने के लिए गांधीजी ने इस पर सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक सभी पहलुओं से प्रबल प्रहार किया। उन्होंने बतलाया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का पालन करे। उन्होंने संन्यासियों को भी चरखा चलाने तथा यज्ञ के रूप में राजनीतिक एवं सामाजिक कार्य करने की सलाह दी। इससे भी आगे जाकर वे तो आध्यात्मिक ज्ञान तथा मोक्ष के लिए भी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रमों में भाग लेने की सलाह देते थे। परन्तु इस प्रकार के कार्य ठीक ढंग से ही किये जायं और साध्य की भांति साधन भी पवित्र ही हों, ऐसा वे मानते थे। साथ ही गांधीजी का आग्रह रहा कि आदमी के जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार से होनी चाहिए कि उसमें कार्य-प्रेरणा और पसन्दगी की स्वतंत्रता हो। इसलिए आर्थिक व्यवस्था का निर्माण दस्तकारी और विकेन्द्रित उद्योगों पर ही किया जाय। इसके अतिरिक्त गांधीजी जानते थे कि राजनीतिक शक्तियों के केन्द्रीकरण से भी स्त्री और पुरुषों का शोषण होता है और उन्हें अपने अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। इसलिए वे राजनीतिक शक्तियों को तोड़कर उन्हें छोटे-छोटे स्वयंशासित इकाइयों में बाँटना चाहते थे, जो अर्द्ध-स्वतंत्र लोकतंत्र के रूप में कार्य करें, कारण इससे राजनीतिक प्रभुओं और नौकरशाही की सत्ता कम होती है, तथा मतदाता की शक्ति बढ़ती है, उसका मत अधिक प्रभावशाली हो जाता है।[१]

राज्य के प्रति व्यक्ति का क्या भाव रहे, और सच्चा स्वराज्य किसे माना जाय, इस विषयपर गांधीजीने बारबार प्रकाश डाला है। उनके विचार आगे दिये जाते हैं :--

---

[१] **'सर्वोदय', अक्तूबर १९५४, में प्रकाशित आचार्य कृपलानी के लेख से संकलित।**

'सच्चा स्वराज्य कुछ मनुष्यों के राजसत्ता प्राप्त करने से नहीं आएगा, बल्कि सबके राजसत्ता का दुरुपयोग होने पर उसका विरोध करने की क्षमता प्राप्त करने से आएगा। दूसरे शब्दों में स्वराज्य जनता को इस प्रकार शिक्षित करने से आएगा कि उसमें सत्ता पर नियंत्रण रखने और उसका विनियमन करने की क्षमता की चेतना आए।' 'स्वराज्य का सच्चा अर्थ यह है कि राज्य का प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण संसार के विरुद्ध अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है।'[१] 'सच्चा स्वराज्य केवल वहीं सम्भव है, जहां सत्याग्रह ही प्रजा का खास सहारा हो। जहां ऐसा न हो, वहाँ तो स्वराज्य नहीं, पर-राज्य ही है ।'[२]

नागरिकों के कर्तव्य—आजकल जहां देखो, अधिकारों का आन्दोलन दिखायी देता है, नागरिक अपने कर्तव्यों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। सर्वोदय व्यवस्था में बात दूसरी ही है, इसमें कर्तव्यों को प्रधानता दी जाती है। पिछले चार अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि समाज का आदर्श क्या होगा—व्यक्ति स्वयं अनुशासित होगा; समाज शोषणहीन, शासनमुक्त और समरस होगा; सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व होगा। इससे यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि सर्वोदय में नागरिकों के कर्तव्य क्या होंगे। इसे कुछ और स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नागरिक के कर्तव्य निम्नलिखित ११ व्रत होंगे—(१) अहिन्सा, (२) सत्य (३) अस्तेय या चोरी न करना, (४) ब्रह्मचर्य, (५) असंग्रह या अपरिग्रह, (६) शरीर-श्रम, (७) अस्वाद, (८) अभय या निडरता, (९) सर्वधर्म समभाव, (१०) स्वदेशी और (११) स्पर्श-भावना अर्थात् किसी को अस्पृश्य न मानना।[३]

---

[१] **यंग इंडिया**

[२] **हिन्द स्वराज्य**

[३] **ये व्रत सूत्र रूप से इस प्रकार हैं—**

अहिन्सा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्म समानत्व स्वदेशी स्पर्श भावना।
विनम्र व्रत निष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं॥

इन व्रतों पर गांधी जी ने सन् १९३० में व्याख्या की थी, जब कि वे यरवदा

स्मरण रहे कि इन व्रतों को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना होता है। उदाहरण के लिए अहिन्सा का आशय यही नहीं है कि किसी की हत्या न की जाय, वरन् हमें मन, वचन और कर्म सभी प्रकार से अहिन्सक होना चाहिए। दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट पहुंचाने का विचार न करना चाहिए। फिर, हमारी अहिन्सा कायरों की अहिन्सा न होकर वीरों की अहिन्सा होनी चाहिए, अर्थात् यदि हमारा विपक्षी बलवान है, और हम उससे डरते हैं तो ऐसी दशा में हमारे क्रोध प्रकट न करने और अहिन्सक रहने में कोई तारीफ की बात नहीं, यह तो लाचारी की अहिन्सा है। अपने से कमजोर के प्रति अहिन्सक रहने में सच्ची अहिन्सा है।

सत्य का अर्थ केवल वाणी का सत्य नहीं है, हमारे रोजमर्रा के साधारण व्यवहार में भी सत्य का आचरण होना चाहिए। वर्तमान स्थिति में यह बहुत कठिन है, यहां तक कि बहुत से आदमी ऐसा मानते हैं कि व्यापार-धंधे में तो सत्य चल ही नहीं सकता। तथापि सर्वोदय दृष्टिवाले राज्य में नागरिक का यह आवश्यक कर्तव्य है।

अस्तेय का अर्थ है कि हम चोरी न करें। बिना श्रम किये खाना पहिनना भी चोरी है, और थोड़े परिश्रम से बहुत प्राप्ति करने के लिए व्यापार, जुआ, सट्टा, घुड़दौड़ आदि भी चोरी है। इसी प्रकार किसी सार्वजनिक पद पर रह कर काम कम करना और भारी वेतन या भत्ता लेना भी चोरी है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ गांधीजी ने 'समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण और मनसा वाचा कर्मणा वासना का निवारण' लिया है।

अपरिग्रह या संग्रह का आशय यह है कि हम अपनी सब सम्पत्ति को समाज की मानते हुए, उसका उपयोग मानव सेवा के लिए करें, और अपने आप को केवल उसका ट्रस्टी समझें।

शरीर-श्रम का केवल आदर ही नहीं करना है, वरन् उसे अपने जीवन-निर्वाह के साधन के रूप में अपनाना है।

अस्वाद का आशय यह कि हमारा आदर्श जीने के लिए खाना है, न कि खाने के लिए जीना।

जेल में थे। यह व्याख्या उनकी 'मंगल प्रभात' नाम की पुस्तक में प्रकाशित है। सर्वोदय विचार वाले इन व्रतों के सूत्र को दोनों समय प्रार्थना में कहते हैं।

अभय का अर्थ है कि हम अपने से बड़े से, अधिक धनवानों से या किसी भी सत्ता धारी से न डरें, और बड़ी से बड़ी जोखम उठाकर भी न्यायोचित व्यवहार करें।

सर्व-धर्म-सम भाव में दृष्टि यह है कि हमारा ही धर्म सच्चा या सही नहीं है। हमें हर जगह से सत्य को लेने के लिए तैयार रहना चाहिए। सम्पूर्ण सत्य को कोई प्राप्त नहीं कर पाया है।

स्वदेशी में अपने पास वाले पड़ोसी के श्रम से बनी चीजों का व्यवहार करके उसकी सेवा और सहायता करने की भावना है। हां, 'स्वदेशी' के नाम पर हम किसी की भी बनायी, फैशन, शौकीनी या विलासिता आदि की वस्तुओं को नहीं ग्रहण करेंगे।

स्पर्श भावना में मनुष्य मात्र का मनुष्य होने के नाते आदर करने और जाति भेद या व्यवसाय भेद या रंग भेद न मानने का विचार है।

कर्तव्यों के बारे में इतना ही संकेत करके अब हम अधिकारों का विचार करते हैं।

अधिकारों सम्बन्धी दृष्टि—सर्वोदय में अधिकारों के सम्बन्ध में दृष्टि यह रहती है कि जब नागरिक अपने-अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करते हैं तो उन्हें आवश्यक अधिकार स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। सर्वोदय विचारवाला नागरिक अपने अधिकारों का उपयोग ही इसलिए करता है कि वे अधिकार उसके उन कर्तव्यों के पालन में सहायक होते हैं जो उसके, समाज या राज्य के प्रति होते हैं। इस प्रकार सर्वोदय व्यवस्था में नागरिकों के विविध अधिकार तो होते हैं—जैसे भाषण, लेखन और प्रकाशन की स्वतंत्रता; सभा-सम्मेलन करने की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, काम धंधा करने की स्वतंत्रता, समानता, शिक्षा-प्राप्ति और सांस्कृतिक विकास की स्वतंत्रता, मताधिकार, लोकसेवा में भाग लेने का अधिकार आदि। परन्तु किसी भी अधिकार के उपयोग में यह दृष्टि बराबर रखनी होती है कि उस अधिकार की मर्यादा का उल्लंघन न हो, उस अधिकार का उपयोग समाज-हित के लिए और केवल समाज-हित के लिए, किया जाय। इस प्रकार सब अधिकार गौण हैं, मुख्य तो वे कर्तव्य हैं, जिनका पालन करने के लिए इन अधिकारों की आवश्यकता होती है।

गांधीजी के विचार—इस विषय में गांधीजी के कुछ विचार ये हैं—

(क) इस स्वराज्य (रामराज्य या जनता के स्वराज्य) में किसी को अपने अधिकार का ख्याल तक नहीं होता। अधिकार आवश्यक होने पर खुद-बखुद दौड़ा चला आता है। इसमें लोगों के अपने हक जानने की जरूरत नहीं होती, पर अपना धर्म जानना और पालना आवश्यक होता है। कारण यह कि कोई कर्तव्य ऐसा नहीं है, जिसके अन्त में कोई हक न हो। और सच्चे हक अथवा अधिकार तो केवल पाले हुए धर्म में से ही पैदा होते हैं।

(ख) जो सेवा-धर्म पालता है, उसी को नागरिकता का असली अधिकार मिलता है और वही उसे पचा सकता है।

(ग) वैसे ही झूठ न बोलने का (अर्थात् सत्य का) और मारपीट न करने का (अर्थात् अहिन्सा का) धर्म पालन करने से जो प्रतिष्ठा मिलती है, वह उसे बहुतेरे अधिकार दिला देती है, और ऐसा मनुष्य अपने अधिकार भी सेवा के लिए उपयोग करता है, स्वार्थ के लिए कदापि नहीं।[१]

विशेष वक्तव्य—गांधीजी ने जो यह कहा है कि कर्तव्य-पालन से अधिकार तो खुद-बखुद आ जाते हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वयं गांधीजी के जीवन में अच्छी तरह मिल जाता है। पाठकों को ज्ञात होगा कि जबकि गांधीजी कांग्रेस के साधारण (चवन्नी देनेवाले) सदस्य भी न रहे थे, उनका प्रभाव ऐसा ही था जैसा कांग्रेस के सभापति आदि का; यहां तक कि कांग्रेस अध्यक्ष को अनेक बार उनसे परामर्श लेना और उस परामर्श के अनुसार काम करना होता था। इससे सार्वजनिक जीवन में अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों का महत्व अधिक होना स्पष्ट है।

---

[१] **'गांधी-विचार-दोहन' : लेखक—श्री किशोरलाल मश्रूवाला।**

नवां अध्याय

पक्षातीत नीति

बाबा की बड़ी कमाई यही है कि जो बाबा का काम है वह कांग्रेस को मान्य है, प्रजापार्टी को मान्य है, हरेक को मान्य है। यहां तक कि कम्यूनिस्ट भाई भी उसका विरोध नहीं करते। सब की एक राय है। सारे मसले सब पक्ष मिलजुल कर हल कर लें। जितने काम इस तरह करेंगे, उतनी पक्षातीत लोकनीति बढ़ेगी। यही है सर्वोदय नीति। सब पक्षों की सहानुभूति से अगर हम काम करते हैं तो देश का दुनिया का संकट टल जाता है। पक्षातीत नीति के बिना दुनिया में शान्ति नहीं हो सकती।

—विनोबा

पार्टी-सरकार और नौकरशाही की पद्धति ने प्रतिभा, पराक्रम और सामान्य मनुष्य की न्याय तथा नैतिक मूल्यों के प्रति आदर की भावना आदि का नाशकर दिया है। विधान-सभाओं के सदस्य और मंत्री भी जनता पर बेकार का बोझ हो गये हैं।

—किशोरलाल मश्रूवाला

वर्तमान राजनीति और दलबन्दी—पहले बताया जा चुका है कि वर्तमान लोकतंत्री पद्धति में दलबन्दी अनिवार्य है। दो दलों के विना उसका काम ही नहीं चलता—एक दल सत्तारूढ़ होता है वह अपनी सत्ता बनाये रखने की चिन्ता में रहता है; दूसरा दल उसका विरोधी होता है। विरोधी दल सत्ताकांक्षी होता है। वह ऐसे मौके के इन्तजार में रहता है कि और ऐसी परिस्थितियां पैदा करता रहता है जिनसे सत्तारूढ़ दल को नीचा देखना पड़े, वह हार जाय और यह उसकी जगह सत्ता प्राप्त करले। इस लिए यह यथासम्भव उसकी हरेक बात की निन्दा या कट

आलोचना करता रहता है। मजा यह है कि जिन बातों का वह पहले विरोध करता था, सत्तारूढ़ होने पर उनमें से बहुत सी बातों को उसी या कुछ बदले हुए रूप में वह स्वयं करने लगता है।

घातक परिणाम—पक्षातीत पद्धति में विधान-सभाओं के सदस्यों को किसी बात की गहराई में जाने और सत्यासत्य जानने की जरूरत ही नहीं होती। उन्हें तो अपने दल के नेता की हाँ में हाँ मिलानी होती है। उन्हें अपने दल के अनुशासन-नियमों का भय रहता है। वे अपनी स्वतंत्र चिन्तन-शक्ति का उपयोग नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस पद्धति में मंत्रियों की बहुत सी शक्ति इसी में लगी रहती है कि उन्हें अपने दल का पूरा समर्थन मिले और वे दूसरे दलों पर विजयी हों। इससे लोकोपयोगी कार्यों को क्षति पहुंचना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त समाज जुदा-जुदा टुकड़ों में बट जाता है। भूकम्प या बाढ का भी काम हो तो यही फिक्र रहती है कि कांग्रेस के द्वारा हो या समाजवादी पार्टी के। सार्वजनिक काम भी मिलकर नहीं होता, पक्षों की कशमकश में जनता के हित का कोई ख्याल ही ही नहीं हो सकता।

पक्षातीत नीति की आवश्यकता—इससे पक्षातीत नीति की आवश्यकता स्पष्ट है। इसके अनुसार राज्य का सारा काम सब पक्षों की रजामन्दी से करना होगा, खासकर उन पक्षों की सहमति से जो हिंसावादी न हों और मिलजुल कर खुले आम राजकाज में सहयोग देने के अभिलाषी हों। ऐसे ही कार्यक्रम हाथ में लेने होंगे जिनके विषय में सब का एक मत होगा। सर्वोदय मे हमारी नीति किसी एक पक्ष की नीति न होगी, चाहे वह पक्ष कितना बड़ा या प्रतिष्ठित क्यों न हो।

वर्तमान दशा में युद्ध आदि का संकट उपस्थित होने पर लोकतंत्री सरकारों में दलबन्दी की नीति त्याग कर सब दलों की मिलीजुली सरकार बनायी जाया करती है। आवश्यकता है कि ऐसी सरकार बनाने के लिए हम किसी संकट का होना जरूरी न समझें; सदा ही, शान्तिकाल में भी पक्षातीत नीति रखने की बात सोचें।

पक्ष-संघर्ष का कारण, केन्द्रीकरण—पक्ष-संघर्ष होता क्यों है? विचार करने से मालूम हो जायगा कि इसका एक प्रमुख कारण शासन और उत्पादन का केन्द्रीकरण है। श्री श्यामसुन्दर प्रसाद ने इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश

डाला है। आपने लिखा है[१]—जब शासन और उत्पादन केन्द्रित आधार पर होते हैं तो देश की विविध समस्याओं पर वहां के लोगों की राय अनिवार्यत: कई तरह की हो जाती है। इसके दो कारण होते हैं; एक तो समस्याओं का हल स्थानीय आधार पर न खोजकर केन्द्रीय आधार पर खोजने की कोशिश होती है; दूसरे जुदा-जुदा आदमी उन समस्यायों पर अपनी राय अलग-अलग विचारों और स्वार्थों से प्रेरित होकर प्रकट करते हैं।

जिस स्थान से किसी समस्या का सम्बन्ध होता है, यदि वहीं उसके हल के संबंध में विचार न कर के वहां से दूर किसी अन्य स्थान पर विचार किया जाता है तो मतभेद पैदा होने की गुंजायश होती है। इसके विपरीत, यदि उसे स्थानीय आधार पर हल करने की कोशिश की जाय तो एकमत होने की अधिक गुंजायश होती है।

एक उदाहरण—'उदाहरण के लिए किसी गांव की सिंचाई की व्यवस्था के सम्बन्ध में या इसी प्रकार के किसी अन्य प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करना है। यदि उस गांव के लोगों को ही उसका निर्णय करना हो तो एकमत से निर्णय होने की अधिक उम्मीद होगी। इसका कारण यह है कि गांव के लोग उस मसले को प्रत्यक्ष देखते हैं, और उसके हल के लिए जो सुझाव आते हैं, उन्हें वे समझ सकते हैं कि वे सुझाव सही हैं या गलत। ऐसी स्थिति में सुझाव देने वालों को यह सोचना पड़ता है कि वे उपयुक्त सुझाव ही दें। अपने किसी पूर्वाग्रह या दलबन्दी के कारण वे अन्य प्रकार का सुझाव रखने का साहस भरसक नहीं करेंगे। परन्तु यदि वहां से दूर दूसरे लोगों को उस प्रश्न का निर्णय करना हो, तो पूर्वाग्रह या दलबन्दी का भाव आ जाना आसान होता है; क्योंकि वहां कोई प्रत्यक्ष देखने वाला नहीं होता है कि जो सुझाव दिये गये उनका स्थानीय मसले से कितना सम्बन्ध है। अत: जब केन्द्रीकरण के आधार पर काम होता है, तो विभिन्न दलों के प्रतिनिधि अपने पूर्वाग्रह या पार्टी के विचार के अनुसार निर्णय करना चाहते हैं। ऐसी हालत में शासक दल के विरोध में दूसरे दल का होना आवश्यक हो जाता है। यह विरोधी दल शासक की गलतियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करता है, और उसका असर शासक पर भी पड़ता है।'

---

[१] **'राजस्थान', २०-१०-५४ में प्रकाशित लेख से संकलित**

पक्षातीत नीति के लिए विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता—इस प्रकार राजनीति को पक्षातीत करना हो तो विकेन्द्रीकरण पद्धति का उपयोग आवश्यक है। यदि हम शासन और उत्पादन के क्षेत्रों में विकेन्द्रित व्यवस्था रखेंगे, तो शुरू में कुछ समय तक जो पार्टियां रहेंगी भी, उनमें मिल कर काम करने की प्रवृत्ति पैदा होगी। जो विषय जहां का है, यदि उसका निर्णय वहीं किया जाय, तो मतभेद कम होता है। एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। कुछ दूसरे उदाहरण हम लें। असेम्बली या पार्लिमेंट में होने वाली बहसों को गौर से देखने पर यह प्रकट होता है कि जो विषय वास्तव में देशव्यापी महत्त्व के हैं, उन पर मतभेद पैदा होने की प्रवृत्ति कम होती है। किन्तु जो विषय वास्तव में स्थानीय महत्त्व के हैं, पर आज की व्यवस्था में उनका फैसला अखिल भारतीय या प्रान्तीय आधार पर होता है, उन पर मतभेद होने की प्रवृत्ति अधिक होती है। जब हम दिल्ली में बैठ कर यह निर्णय करते हैं कि कपड़े का उत्पादन और वितरण कैसे हो, चीनी पर नियन्त्रण कैसे किया जाय, शिक्षा की पद्धति कैसी हो, या इसी प्रकार का कोई अन्य प्रश्न किस प्रकार से सुलझाया जाय तो विविध पार्टियां अलग-अलग दृष्टिकोण उपस्थित करती हैं, और उनमें कार्य-पद्धति के बारे में मतभेद पैदा होता है। दूसरी ओर परराष्ट्र-नीति, रक्षाविभाग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार या इसी प्रकार के अन्य विषयों से सम्बन्ध रखने वाली बातों पर उतना तीव्र मतभेद नहीं होता।

विकेन्द्रित व्यवस्था से मतभेदों की कमी—इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि स्थानीय महत्व के विषयों का निर्णय स्थानीय आधार पर हो, तो इस प्रकार के मतभेद प्रकट होने का अवसर ही न आये। तब मतभेद के कारण जो कटुता पैदा होती है, उसका अवसर भी न आयेगा। कभी सिद्धान्त सम्बन्धी जो मतभेद प्रगट किये जाते हैं, वे जमींदारी का मुआवजा, भूमि की हदबन्दी यानी एक परिवार के पास अधिक-से-अधिक कितनी जमीन रहे, लगान वसूली की व्यवस्था , सिचाई का प्रबन्ध, नागरिक अधिकार या इसी प्रकार के किसी अन्य विषय से सम्बन्धित होते हैं। जब हम विकेन्द्रीकरण के आधार पर शासन की व्यवस्था करेंगे, तो इस प्रकार के मतभेदों के लिए भी कम स्थान रह जायगा।

चुनावों पर शुभ प्रभाव—विकेन्द्रित व्यवस्था में चुनावों को दलबन्दी के आधार पर लड़ने की आवश्यकता न होगी। चुनाव में लोग अच्छे आदमियों को वोट देंगे, किसी पार्टी को नहीं! आज भी ग्राम पंचायत का जो चुनाव होता है, वह दलबन्दी के आधार पर नहीं लड़ा जाता। विविध पार्टियों की ओर से उम्मीदवार खड़े नहीं किये जाते, बल्कि गांव के लोग व्यक्तिगत हैसियत से खड़े होते हैं। फिर भी आज दलबन्दी का जो वातावरण है और गांव में मुकदमेबाजी के कारण जो आपसी द्वेष-भाव है, उसका असर तो वहांके चुनाव पर पड़ता ही है। सारे वातावरण में परिवर्तन आने के बाद ये चुनाव बिल्कुल व्यक्तिगत आधार पर लड़े जायेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि गांव की जनता के सीधे सम्पर्क में रहने के कारण उम्मीदवारों के गुण-दोष जनता को मालूम रहेंगे और अच्छे उम्मीदवारों के मुकाबले में खराब उम्मीदवार खड़ा होने का साहस ही न करेगा। इस तरह चुनाव आज की तरह कठिन नहीं, बल्कि सरल काम हो जायगा। विकेन्द्रित व्यवस्था होने पर ग्राम-पंचायत-चुनाव में पार्टियों का आज जो रुख है, वही रुख अन्य चुनावों में भी रह सकेंगे; क्योंकि उस स्थिति में कटुता और मतभेद की गुंजाइश आज की तरह न रहेगी। यह हो सकता है कि वर्तमान परिस्थिति की विरासत के रूप में कुछ समय तक चुनाव-संघर्ष की ऐसी ही हालत रहे। पर धीरे-धीरे इस संघर्ष की तीव्रता कम होगी और हम पक्षातीत समाज की ओर बढ़ेंगे।

सिद्धान्त-भेद हानिकर न होगा—ऊपर के कथन का यह आशय नहीं कि विकेन्द्रीकरण नीति के प्रयोग से सिद्धान्त-भेद मिट जायगा और सब की विचारधारा एक ही प्रकार की हो जायगी। श्री श्यामसुन्दर प्रसाद ने पूर्वोक्त लेख में बताया है कि जुदा-जुदा सिद्धान्त तो रहेंगे, और उनके प्रचार के लिए पार्टियां भी रहेंगी। पर आज की तरह उनके आधार पर चुनाव-संघर्ष न हो सकेगा। चुनावों के अवसर पर सिद्धान्तों की आड़ में दूसरे प्रकार के स्वार्थ साधने का मौका न मिलेगा। पार्टियों के द्वारा सिद्धान्तों का प्रचार जनता में होगा, और जिस मात्रा में जनता उन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेगी, उस मात्रा में स्थानीय मामलों के निर्णयों में उन सिद्धान्तों को अमल में लायेगी; इसका असर केन्द्र के निर्णयों पर भी पड़ेगा और उन सिद्धान्तों का प्रवेश केन्द्रीय व्यवस्था में भी होगा। आज विविध पार्टियां बनती तो हैं सिद्धान्तों

के आधार पर, लेकिन उनके रोज बरोज के कामों का सम्बन्ध सरकार या दूसरों की त्रुटियों की आलोचना से ही होता है। विकेन्द्रित व्यवस्था में ऐसा न हो सकेगा।

राजनीति, पक्ष की न होकर, सेवा की हो—राजनीति पक्षातीत और सेवामय होने से ही मानव कल्याण होगा। ऐसी राजनीति को सम्भव है कुछ लोग राजनीति ही न कहें। अस्तु, इस विषय में श्री विनोबा ने कहा है—'विचार-भेद को हम जिन्दगी का लक्षण समझते हैं, लेकिन विचार-भेद के आधार पर जब पक्ष-भेद बनते हैं तो उसमें विचार का माद्दा कम हो जाता है और संगठन का, अनुशासन का, बाहरी प्रचार का माद्दा बढ़ जाता है। परिणाम-स्वरूप आज सारी दुनिया में एक कोलाहल सा मचा है। राजनैतिक क्षेत्र अगर छोटा होता, तो बहुत चिन्ता की बात नहीं थी। पर यह बहुत व्यापक बन गया है। ऐसे व्यापक क्षेत्र में अगर स्पर्धा रही, विचार-मंथन के अलावा आचारों का संघर्ष भी जारी रहा तो मानव के विकास में काफी बाधा पड़ सकती है। इसलिए मेरी कोशिश है कि एक ऐसा सेवक वर्ग तैयार हो जो अपने लिए कोई 'लेबल' नहीं रखे।....इसके मानी यह नहीं कि कोई विचार-भेद नहीं होगा। इसके मानी यह कि हार्दिक विचार एक होगा, बौद्धिक विचार अलग-अलग हो सकते हैं।'[1]

विशेष वक्तव्य—पक्षयुक्त अर्थात् दलीय राजनीति के घातक परिणामों से पाश्चात्य देश भी बहुत परेशान हैं। पर वे इसमें कोई मूलगामी सुधार करने का साहस नहीं कर पा रहे हैं। सम्भव है, जब वे इसके दुष्परिणामों का कुछ और अधिक अनुभव करने के साथ किसी राज्य को पक्षातीत राजनीति में आगे बढ़ते देखें तो उन्हें भी उसका अनुकरण करने की प्रवृत्ति हो। अस्तु, सर्वोदय विचारधारा वालों का—पूर्वी हों या पश्चिमी—इस विषय में स्पष्ट निर्णय है। दलबन्दी तथा उससे होने वाले विकारों का प्रमुख उपाय विकेन्द्रीकरण ही है। विकेन्द्रीकरण पद्धति पर प्रकाश अगले अध्याय में डाला जायगा।

---

[1] 'हरिजन सेवक', ११ दिसम्बर १९५४

दसवां अध्याय

विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन

सच्ची लोकसत्ता तब तक नहीं आ सकती, जब तक शासन को केन्द्रित करते हैं और सेना का आधार रखते हैं—जहां शासन केन्द्रित किया, वहां सेना लगेगी ही। अतः होना यही चाहिए कि गांव-गांव में सत्ता का विभाजन हो।

—विनोबा

जहां स्वावलम्बन नहीं, वहां स्वतंत्रता नहीं। किन्तु स्वावलम्बन की भी एक सीमा है। आदमी अपने श्रम से केवल अपने को ही जिलाने की कोशिश करेगा तो उसका जीवन बहुत समृद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिए स्वातंत्र्य और बन्धुत्व तथा स्वावलम्बन और सहयोग का समन्वय हमारी क्रान्ति का लक्ष्य है।

—शंकरराव देव

पिछले अध्याय में कहा गया है कि पक्षातीत नीति के लिए शासन और उत्पादन का विकेन्द्रीकरण होना आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि राजसत्ता तथा आर्थिक व्यवस्था राज्य की छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित हो। इस अध्याय में पहले इसी विषय पर कुछ खुलासा विचार कर के पीछे स्वावलम्बन पर प्रकाश डाला जायगा।

[१]

विकेन्द्रीकरण

राजनैतिक विकेन्द्रीकरण—विकेन्द्रीकरण आर्थिक भी होता है, और राजनैतिक भी। राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का आशय यह है कि स्थानीय स्वायत्त

शासन अधिक से अधिक हो। ग्राम-पंचायत और नगर-पंचायतों को स्थानीय कार्य करने के लिए यथेष्ट अधिकार तथा आय हों। ये जनता की सब बुनियादी जरूरतों को पूरा करें और इसके लिए आवश्यक द्रव्य के वास्ते किसी के आश्रित न रहें। ये अपने-अपने क्षेत्र में स्वावलम्बी हों। उनकी कार्यप्रणाली में कुछ त्रुटि हो तो उन्हें स्वयं उसमें सुधार करने का अवसर मिले। यथा-सम्भव ये अपनी गलतियों से आगे के लिए शिक्षा लें। इन्हें अपने से ऊपर की संस्थाओं—जिला-सभा या प्रादेशिक सभा—से केवल सलाह मशविरा ही मिले, आदेश या हुक्म नहीं। ऊपर की संस्थाएँ इनकी सहायक और मार्गदर्शक हो। उन्हें इनके सम्बन्ध में सिर्फ उतना ही कार्य करना होगा जितना ये स्थानीय संस्थाएँ उनके द्वारा कराना चाहेंगी। उनकी आय के श्रोत भी ये स्थानीय संस्थाएँ ही निर्धारित करेंगी।

ग्राम-संस्थाएँ—ग्राम-संस्थाएँ ऐसी होंगी कि गांव के पूरे जीवन की—खेती, उद्योग, पशु पालन, जंगल, सिंचाई, शिक्षा, चिकित्सा और रक्षण आदि सब कार्यों की—व्यवस्था करें। भारत में तो पंचायतें बहुत पहले से ग्राम-जीवन की सारी व्यवस्था करती रही हैं। दूसरे देशों में जहां अब व्यवस्था बहुत ही केन्द्रित हैं, वहां भी विचारक इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि गणतंत्र तभी सफल होगा, जब उसे ग्राम-पंचायतों जैसी छोटी-छोटी इकाइयों में बांट दिया जायगा। अधिकतर शासन सूत्रधार इस बात को गम्भीरतापूर्वक नहीं सोचते। प्रान्तीय कानून से गांव सभा, पंचायत या जनसभा आदि नाम के संगठन बना देने और उन्हें कुछ कर लगाने या सफाई तथा कुछ साधारण मामलों का फैसला करने का अधिकार देने से ही उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता; पंचायतों को पूरे ग्राम जीवन की व्यवस्था करने का अधिकार रहना चाहिए तथा इसके लिए वे आर्थिक दृष्टि से समर्थ होनी आवश्यक हैं।

आर्थिक विकेन्द्रीकरण—इसके साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। केन्द्रित व्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्ति विशेष का, अथवा राष्ट्र का अधिकार होता है। उस दशा में लोगों को उनकी अधीनता में रह कर काम करना होता है; उनकी स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध रहता है। व्यक्ति विशेष की मिल्कियत होने की दशा में जनता का शोषण होता है, और सरकार की मिल्कियत होने से जनता पर शासन की अधीनता बढ़ती है। इसलिए आर्थिक विकेन्द्रीकरण होना आवश्यक है। इसके वास्ते उत्पत्ति के साधनों पर स्वयं उत्पादकों का अधिकार होना चाहिए।

इस प्रकार जिस भूमि पर जो आदमी खेती करे, वह उसी के अधिकार में रहे, वैसे गांव भर की भूमि पर गांव का स्वामित्व हो। इसी तरह उद्योग-धंधों में काम आने वाले औजारों आदि पर उन व्यक्तियों का अधिकार हो जो उद्योग-धंधा करें।

विकेन्द्रित समाज-रचना—हमारा लक्ष्य विकेन्द्रित समाज-रचना होना चाहिए। इसके विषय म श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने लिखा है—'सिद्धान्त के रूप में हमारी अभीष्ट राजनैतिक और आर्थिक समाज-रचना की तसवीर यह है कि उसकी नींव ग्राम-प्रजातंत्रों पर होगी। ये ग्राम-प्रजातंत्र आपस में मिलकर अपने छोटे-छोटे संघ बनायेंगे और छोटे संघ बड़े संघ बनायेंगे। इस तरह सारे देश का एक संघ बनेगा। यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर व्यापक बनेगी और कालान्तर में सारी दुनिया का एक संघ कायम होगा। इन संघों की सत्ता और अधिकार उतने ही होंगे, जितने उनकी इकाइयां उन्हें देंगी। इस तरह सर्वोच्च संघ कम से कम कार्य करेगा। यह सब तब हो सकता है, जब हमें सम्पूर्ण अराजकता की स्थिति से—जिसमें केन्द्र, प्रान्त या दूसरी कोई सत्ता न हो—निर्माण करने का अवसर मिले। लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि सब से ऊपर एक सर्व-सत्ता-सम्पन्न केन्द्रीय राज्य है, फिर, उसके बाद उससे कम परन्तु पर्याप्त सत्ता-सम्पन्न प्रान्तीय राज्य हैं और उनके बाद छोटे-छोटे संघटन हैं, जिन्हें केवल उतने ही अधिकार हैं और जो केवल उतने ही कार्य करते हैं जितने कि प्रान्तीय राज्यों ने उन्हें केन्द्रीय राज्य की सहमति से दिये हैं। इसलिए यदि हिन्सा और दूसरे अति उग्र उपायों को टालना है तो छोटी इकाइयों के विकास का, उनके द्वारा स्वातंत्र्य-प्राप्ति का, यही एक उपाय रह जाता है कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सत्ताओं को समझा-बुझा कर या दबाव डालकर इस बात पर राजी किया जाय कि वे यथा-सम्भव अपने अधिकार छोड़ दें और उन्हें छोटी से छोटी व्यावहारिक इकाइयों को सौंप दें।'

केन्द्रीय शासन का छोटी इकाइयों से व्यवहार—निचली इकाइयों की वर्तमान स्थिति में उपर्युक्त विचार कुछ पाठकों को ठीक न जंचते होंगे। इसका समाधान श्री मश्रूवाला ने इस प्रकार किया है—'मैं जानता हूँ कि छोटी इकाइयां इस समय इतनी कमजोर और इतनी पिछड़ी हुई हैं कि वे न तो यह जानती हैं कि वे क्या करना चाहती हैं और न यह जानती हैं कि वह सब कैसे हो सकता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि केन्द्रीय शासनतंत्र ही उनके लिए योजनाएँ बनाये, इन

योजनाओं को उनके ऊपर लादे और उन्हें इनकी तामील करने के लिए कहे या उसकी व्यवस्था करने के लिए संस्थाएँ खड़ी करे। शासन की ऊपर की इकाइयों को निचली इकाइयों की आकांक्षाएँ समझने की कोशिश करनी चाहिए। हाँ, यदि उनमें अज्ञान या मन और दृष्टि की संकीर्णता के कारण राज्य की सुरक्षा या राष्ट्र के कल्याण, न्याय, निष्पक्षता, नीति, गरीब से गरीब आदमी का हित आदि की दृष्टि से कोई दोष नजर आये तो हमें उन्हें समझा बुझा कर उनके विचार बदलवाना चाहिए। अगर केन्द्र को ऐसा अनुभव आये कि वे जिद करती हैं या किसी महत्वपूर्ण नैतिक सवाल पर (उदाहरण के लिए, जात-पांत या सम्प्रदायों की समानता के बारे में) उदार विचारों और सद्व्यवहार का बिलकुल विरोध करती हैं, तो अन्तिम अवस्था में वह छोटी इकाई को अपना सहकार देने से इनकार करदे और उसे अपने भरोसे अकेली छोड़ दे। यह नीति तब तक बरती जाय, जब तक कि उसे यह महसूस न हो जाय कि इसमें उसी की हानि है और उक्त सैद्धान्तिक सवाल पर केन्द्र का आग्रह उसी के हित में था। लेकिन व्यवहार का साधारण नियम तो यही हो कि केन्द्र उन्हें धैर्यपूर्वक सही दिशा में बढ़ने के लिए मार्गदर्शन देता रहे।"[१]

विकेन्द्रीकरण कार्य का उदाहरण; भारत में भूदान-यज्ञ—जैसा कि श्री सिद्धराज ढड्डा ने बताया है—'भारत में भूदान-यज्ञ के जरिये हम आर्थिक और राजनैतिक दोनों तरह के केन्द्रीकरण को और इन दोनों प्रकार की केन्द्रित शक्तियों को खतम करना चाहते हैं। भूदान-यज्ञ के जरिये हम उत्पादन का मुख्य साधन जमीन जन-जन के हाथ में पहुँचा देते हैं और अतः आर्थिक केन्द्रीकरण को रोकते हैं यह तो साफ है, परन्तु उससे राजनैतिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण होता है। यह कार्य यज्ञ में मिली हुई जमीन के बंटवारे के हमारे तरीके से और उसके बाद गांव में जो व्यवस्था हम कायम हुई देखना चाहते हैं उससे होता है। यज्ञ में मिली हुई जमीन के बटवारे में भूदान-कार्यकर्ता तो निमित्तमात्र होते हैं या होने चाहियें। जमीन का बंटवारा असल में गांव की आम सभा के जरिये, गांववालों की साक्षी से, उन्हीं की सलाह से बल्कि उन्हीं के निर्णय से होता है। गांव में जमीन कम मिली हो और बेजमीन ज्यादा हों तो और जमीन इकट्ठी कर के उनकी मांग पूरी करना या फिर

---

[१]'भावी भारत की एक तसवीर' से

उन बेजमीनों में से पहले किसे देना किसे न देना—यह फैसला खुद गांव वालों से ही कराया जाता है और इस तरह गांव की व्यवस्था गांव में ही मिल-जुलकर खुद गांव वाले ही कर सकें, इस वृत्ति की शुरुआत भूमिदान-यज्ञ के जरिये होती है। आज गांव की हर छोटी मोटी बात के लिए जनता राज्य अर्थात् केन्द्रीय दंडशक्ति पर भरोसा रखती है जिसकी कीमत उसे अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई गुलामी के रूप में चुकानी पड़ रही है। भूमिदान-यज्ञ के जरिये हम जनता में फिर से उसकी अपनी सोई हुई शक्ति का भान कराते हैं और उसे बताते हैं कि गांव के सब मसलों का, सब समस्याओं का हल गांव वाले खुद मिलजुल कर, कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिये। गांव में रहने वाले हर व्यक्ति को काम मिलता है या नहीं, उसके पास उत्पादन का कोई न कोई साधन है या नहीं, नहीं है तो वह उसे किसी तरह प्राप्त करा देना है, काम न होनेसे वह भूखा-नंगा तो नहीं है—गांव की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गांव में क्या-क्या चीजें हमें पैदा कर लेनी चाहियें, कौन कौन से उद्योग हमें वहां कायम और चालू रखने चाहिएँ। उन उद्योगों के संरक्षण के लिए कौन कौन सी बाहरी चीजें हमें अपने गांव में आने से रोकनी हैं, गांव के झगड़े गांव में ही किस तरह निबटा लेने हैं, गांव की सुरक्षा का प्रबंध किस तरह करना है, गांव के मनोरंजन, सार्वजनिक उत्सवों आदि की क्या व्यवस्था करनी है—आदि की कोई भी बात ऐसी नहीं है जो गांववाले मिल कर न कर सकते हों।"[१]

[२]

स्वावलम्बन

राज्यव्यवस्था की सर्वोदय दृष्टि से यह आवश्यक है कि सरकार का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित रहे; मनुष्य के रोजमर्रा के साधारण जीवन में कम-से-कम प्रतिबंध रहे; वह अपने नजदीक के तथा जाने-पहचाने आदमियों की स्थानीय संस्थाओं से शासित हो, कुछ खास इने-गिने कार्यों के लिए ही उस पर प्रादेशिक या केन्द्रीय नियंत्रण हो। जनता अपनी मुख्य आवश्यकताओं को यथा-संभव सरकार की सहायता या सहयोग के बिना ही पूरा करे; जनता स्वावलम्बी हो।

---

[१] "ग्रामराज", १-१०-५३

स्वावलम्बन का कुछ स्पष्टीकरण—कुछ आदमी स्वावलम्बन की चरम सीमा का चित्र खींच कर इसे अव्यावहारिक और अनिष्टकारी बताया करते हैं। याद रहे कि स्वावलम्बन का यह अर्थ नहीं है कि कोई व्यक्ति, परिवार या गांव अपनी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों की सहायता न ले। इसका असल में आशय यही है कि वह अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करे; जिन आवश्यकताओं को वह खुद पूरा न कर सके, सिर्फ उनकी ही पूर्ति दूसरों की सहायता से करे, अनावश्यक परावलम्बन से सदा बचता रहे; खासकर बुनियादी आवश्यकताओं अर्थात् भोजन वस्त्र, मकान के लिए किसी का आसरा न ले। आवश्यक पदार्थों का अधिकतर उत्पादन स्थानीय ही होगा। उनके सम्बन्ध में स्वावलम्बन की दृष्टि रहेगी। जो चीजें गांव में न हो सकेंगी, वे ही जिले या प्रान्त से ली जायेंगी; और जो वहां न होंगी, वे ही प्रान्त के बाहर से प्राप्त की जायेंगी। राज्य के बाहर से कोई पदार्थ मंगाने का प्रसंग तो बहुत ही कम आयेगा। इस प्रकार आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का परिमाण आजकल की अपेक्षा नाम मात्र को रहना स्वाभाविक है। व्यापार कम होने का एक परिणाम यह होगा कि सिक्के और बैंकों की आज की विपुलता समाप्त हो जायगी। आर्थिक जीवन में इनका स्थान साधारण रहेगा। आन्तरिक व्यापार पर राज्य का नियंत्रण होगा, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो उसके द्वारा ही किया जायगा। मुद्रा और बैंक पर भी राज्य का अधिकार रहेगा।

इस प्रकार समाज अधिकतम स्वावलम्बी होगा, उसके आर्थिक जीवन में ग्रामीण सभ्यता की प्रतिष्ठा होगी, वह कृषि और ग्रामोद्योगों को एक दूसरे के पूरक के रूप में अपनायेगा।

स्वावलम्बन के लिए शरीर-श्रम की अनिवार्यता—आजकल शरीर-श्रम से बचने की भावना इतनी फैली हुई है कि समाज में अनेक आदमी कोई उत्पादक कार्य न करते हुए भी बहुत धन कमा लेते हैं; और उससे मान प्रतिष्ठा के अधिकारी बन जाते हैं, उदाहरण के लिए सूद या किराये की आमदनी वाले, घुडदौड आदि जुए या सट्टे आदि की आय वाले, पुजारी, महन्त, वकील और डाक्टर (जो मुवक्किलों और रोगियों से अनापशनाप धन ऐंठते हैं और मुकदमेबाजी या रोग फैलाने में सहायक होते हैं), जनता में चंचलता और उद्वेग बढ़ाने वाले लेखक, कवि, चित्र-

कार, सिनेमा-नाटक-संचालक, और दूसरे बहुत से बुद्धिजीवी आदि। ऐसे लोगों का होना अहिन्सक समाज या सर्वोदय राज्य की भावना के विपरीत है। इसकी जड़ में शरीरश्रम के प्रति अरुचि है।

कुछ लोगों का कथन है कि समाज में कुछ आदमी ऐसे होने ही चाहिएँ, जिन्हें शरीर-श्रम प्रायः न करना पड़े, अथवा बहुत ही कम समय करना हो, जिससे ये लोग यथेष्ट अवकाश प्राप्त कर सकें, और इस अवकाश के समय को साहित्य,संगीत, कला आदि के विकास में लगा सकें। इस प्रसंग में विचार करना चाहिए कि राज्य के कुछ आदमियों का कलाओं के विकास में लगना, जबकि उनके दूसरे बहुत से भाई बहन अपनी साधारण प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए दिन रात शरीर श्रम करने को बाध्य होते हैं, कहां तक न्यायानुकूल है! ऐसी सब कलाएं आदि अनिष्टकारी हैं, जिनका आधार हिन्सा, शोषण और विषमता हो। सर्वोदय भावना के अनुसार हमें अपने रोजमर्रा के जीवन में शरीर-श्रम को अनिवार्य स्थान देना चाहिए, हमारे काम में ही हमें आनन्द और मनोरंजन मिलना चाहिए तथा हमारी रचनात्मक शक्तियों और कलात्मक प्रवृत्तियों का विकास होना चाहिए।

शरीर-श्रम बनाम बौद्धिक श्रम—आजकल बहुत से आदमी, खासकर बुद्धिजीवी (वकील, जज, अध्यापक, लेखक आदि) शरीर-श्रम को कुछ प्रतिष्ठा नहीं देते और इसे बौद्धिक श्रम से नीचे दर्जे का मानते हैं। यह ठीक है कि समाज को बौद्धिक श्रम की आवश्यकता होती है, परन्तु यदि बुद्धिजीवी अपना काम करना छोड़ दें तो समाज को कुछ कठिनाई भले ही हो, उसका काम चलता रहेगा। इसके विपरीत, यदि श्रमजीवी अपना काम बन्द कर दे तो लोगों की अन्न वस्त्र जैसी मूल आवश्यकताएँ ही पूरी नहीं होंगी। बुद्धिजीवियों को भी जीवित रहने के लिए श्रमजीवियों द्वारा पैदा की हुई वस्तुओं की जरूरत होती है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक श्रम की अपेक्षा शरीर-श्रम किसी प्रकार कम आवश्यक नहीं, इसके विपरीत वह कहीं अधिक आवश्यक है। इसलिए उसे यथेष्ट महत्व दिया जाना चाहिए। अस्तु, स्वावलम्बी समाज में शरीर-श्रम का विशेष स्थान है।

उत्पादन के साधन सबके लिए सुलभ हों—समाज में आदमी स्वावलम्बी हों, इसके लिए आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों पर कुछ थोड़े से लोगों का स्वामित्व न हो, वे सबके लिए सलभ हों। आजकल भूमि पर अनेक ऐसे आदमी अधिकार

जमाये हुए हैं, जो उसे जोतने बोने का श्रम नहीं करते, और दूसरे बहुत से आदमी जो खेती का काम करते हैं या करना चाहते हैं, वे भूमि से वंचित हैं। वास्तव में किसी भी संपत्ति पर किसी व्यक्ति का मिल्कियत-अधिकार न होकर समाज का स्वामित्व होना चाहिए। इस विषय पर खुलासा पहले लिखा जा चुका है। यहां यही कहना है कि उत्पादन के साधनों पर कुछ थोड़े से लोगों का स्वामित्व होना अनैतिक और अनिष्ट-कारी है। इसे समाप्त कर विकेंद्रित स्वावलंबी व्यवस्था का निर्माण होना जरूरी है।

स्वावलम्बी समाज का स्वरूप; खेती और उद्योग—स्वावलम्बी समाज में प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजें सबसे पहले उत्पन्न की जायंगी। उसमें शोषण न होगा। आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण न हो, इसका भरसक ध्यान रखा जायगा। इस दृष्टि से उपभोग की सब आवश्यक वस्तुएँ विकेन्द्रित पद्धति से तैयार की जायंगी।

गांधीजी का मत था कि खेती स्वेच्छापूर्वक अपनायी हुई सहकारी पद्धति से की जाय। उनकी धारणा थी कि "जमीन किसानों के सहकारी स्वामित्व में हो, और जोताई और खेती सहकारी रीति से हो। इससे श्रम, पूंजी और औजारों आदि की बचत होगी। (भूमि के) स्वामी सहकारिता से कार्य करेंगे और पूंजी, औजार, पशु, बीज इत्यादि के सहकारी स्वामी होंगे।"[१]

कुछ धंधे ऐसे होंगे जो बहुत आवश्यक होंगे किन्तु विकेन्द्रित रूप में नहीं चलाये जा सकते, जैसे यातायात के साधनों के उद्योग, बिजली आदि संचालक शक्ति उत्पन्न करनेवाले उद्योग, भारी रसायन पदार्थों के उद्योग, लोहे और फौलाद आदि के उद्योग। इन्हें केन्द्रित पद्धति पर राष्ट्र द्वारा चलाया जायगा; इन पर राष्ट्र का ही स्वामित्व होगा, जो लोकहित का यथेष्ट ध्यान रखेगा। श्री धीरेन्द्र मजूमदार के शब्दों में 'राष्ट्र-उद्योगों की पूरी जिम्मेदारी नयी तालीम की होगी। सर्वोदय समाज में टाटानगर, चित्तरंजन, डालमियानगर, बर्नपुर आदि औद्योगिक केन्द्र न रहकर विभिन्न विषयों के उत्तम-बुनियादी तालीम के केन्द्र बन जायेंगे। उस वक्त वहां इन्जीनियर और मजदूर नहीं रहेंगे, बल्कि शिक्षक और छात्र रहेंगे, वे ही सब मिलकर उत्पादक श्रम करेंगे तथा आपस में उसकी व्यवस्था चलायेंगे।"

विज्ञान का स्थान—विकेन्द्रित स्वावलम्बी समाज में विज्ञान का क्या स्थान

---

[१]'हरिजन', ९-३-४७

होगा, इस सम्बन्ध में श्री मजूमदार ने कहा है—"विज्ञान का अर्थ बड़ी-बड़ी मशीनें नहीं, उसका अर्थ है प्रकृति के नियमों की जानकारी। अणुशक्ति की जानकारी विज्ञान है, ऐटम बम नहीं। समाज का उद्देश्य जिस ओर होगा, विज्ञान का इस्ते-माल उसी दिशा में होगा। आज दुनिया का उद्देश्य राज्यवादी संचालन तथा पूंजीवादी उत्पादन का संगठन है। उसके नतीजों से जो युद्ध विग्रह अनिवार्य हो जाता है, उसके लिए आज विज्ञान ध्वन्सकारी शस्त्रों के बनाने में लगा हुआ है। जब समाज का ध्येय विकेन्द्रित स्वावलम्बी व्यवस्था तथा श्रमवादी उत्पादन का संगठन होगा तो वही विज्ञान विकेन्द्रित उत्पादन शक्ति का आविष्कार तथा उसके लिए साधनों की खोज में जुट जायगा। जब विकेन्द्रित उत्पादन शक्ति की आव-श्यकता होगी तो जिस तरह आज सामान्य व्यक्ति द्वारा सूर्य किरण को केन्द्रित करके खाना बनाने के कुकर का आविष्कार किया जाता है, उसी तरह बड़े वैज्ञानिकों द्वारा उसी सूर्य किरण को अधिक केन्द्रित करके प्रत्येक आंगन में विद्युत शक्ति का उत्पादन करना असम्भव होगा क्या?"[१]

विशेष वक्तव्य—यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन वाली व्यवस्था (जिसका मूल आधार खेती और ग्रामोद्योग होंगे) समाज के लिए वर्तमान अर्थव्यवस्था की उपेक्षा कम सुखदायक न होगी? इस सम्बन्ध में स्मरण रहे कि सुख अधिकतर एक मानसिक वृत्ति है, वह बाहरी साधनों पर निर्भर नहीं होता। फिर, आज के समाज में कुछ आदमी बहुत अधिक साधनों से सम्पन्न होने के कारण उनके भार से दबे हुए हैं तो दूसरी ओर उनके असंख्य भाई-बहिन साधारण प्राथमिक आवश्यकताओं के पदार्थों से भी वंचित हैं। एक ओर बदहजमी है, दूसरी तरफ भूख की ज्वाला है। वेशुमार आदमी तो दुखी हैं ही, उनकी आहों और वेदनाओं ने इनके 'भाग्यशाली' बन्धुओं की भी नींद हराम कर रखी है। संसार से गरीबी और निर्धनता का रोग मिटाना है तो अमीरी आराम-तलबी और मुफ्तखोरी का भी रोग हटाना जरूरी है। इसका विचार करें तो विके-न्द्रीकरण और स्वावलम्बन वाली अर्थव्यवस्था वाला समाज वर्तमान समाज की अपेक्षा निश्चय ही अधिक सुखी और संतुष्ट होगा।

---

[१]**'ग्रामराज', १-१२-५४**

ग्यारहवां अध्याय

स्वतंत्र जनशक्ति

जितना ज्यादा जनशक्ति का विकास होगा, उतनी ही जनता बलवान बनेगी। .... ऐसी शक्ति जब जनता में आ जायगी, तब शान्ति स्थापित होगी।

—विनोबा

समाज-परिवर्तन के दो पहलू हैं—एक हमारा हृदय-परिवर्तन और दूसरा परिस्थिति-परिवर्तन। परिस्थिति का परिवर्तन आखिर हृदय-परिवर्तन पर ही निर्भर करता है।

—अच्युत पटवर्धन

जनशक्ति को लोकशक्ति, प्रेम की शक्ति, अहिन्सा की शक्ति, नैतिक शक्ति या आत्मशक्ति भी कह सकते हैं। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह हिन्सा-शक्ति की तो विरोधी है ही, यह सरकार की उस शक्ति से भी भिन्न है, जिसे दंड शक्ति कहा जाता है। इसे आगे स्पष्ट किया जाता है।

हिन्साशक्ति—प्राय: आदमी सोचते हैं कि हिन्सा से काम झटपट हो जाता है, अहिन्सा का प्रत्यक्ष प्रभाव प्राय: मालूम नहीं होता, अगर कभी मालूम भी होता है तो बहुत समय बाद। स्थूल दृष्टि से हिन्सा की उपयोगिता निश्चित जान पड़ती है। पर असल में बात ऐसी नहीं है; इससे यदि एक मसला हल होता दिखायी देगा तो दूसरा उठ खड़ा होगा, नये-नये मसले पैदा होते रहेंगे। इस विषय में विस्तार से पहले लिखा जा चुका है।

दंडशक्ति—इससे आशय सरकार की शक्ति से है। इसमें भी दबाव या हिन्सा का अंश तो रहता ही है, पर क्योंकि यह सरकार को जनता द्वारा सौंपी हुई होती है,

इसे हिन्सा शक्ति से अलग गिना जाता है। इसमें जनता का परावलम्बन भी स्पष्ट है। इसके आधार पर कुछ सेवा के कार्य हो सकते हैं, परन्तु ऐसी परिस्थिति का निर्माण नहीं होता कि इसके (दंड शक्ति के) उपयोग की आवश्यकता ही न रहे।

जनशक्ति की आवश्यकता—जनशक्ति के उपयोग में यह भावना रहती है कि ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो जाय कि सरकार की शक्ति अर्थात् दंडशक्ति के भी उपयोग का अवसर न आये। इस बात को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि सरकार से सहयोग करने में हमारी दृष्टि क्या हो। उदाहरण के लिए यदि युद्ध चल रहा हो, और किसी को जख्मी सिपाहियों की मदद के लिए जाना हो तो जाये, वह बुरा काम नहीं, पर याद रखें कि इससे युद्ध का अन्त नहीं होगा; युद्ध का अन्त करने के लिए वैसी परिस्थितियाँ पैदा करने का एक अलग या स्वतंत्र कार्य है। इस तरह दंडशक्ति के सहारे जनता की राहत का कुछ काम करने में हमें यह दृष्टि रखनी ही चाहिए कि इससे मूल उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा। वरन् दंड-शक्ति को बल मिलेगा। जरूरत है, जनता को स्वावलम्बी बनाने की दिशा में कार्य करने की, जनशक्ति के निर्माण करने की।

जनशक्ति-निर्माण के साधन; (१) विचार-प्रचार—जनशक्ति के निर्माण करने के दो साधन है। इन्हें श्री विनोबा ने विचार शासन और कर्तृत्व विभाजन कहा है। विचार-शासन का अर्थ है, विचार को समझना और समझाना। बिना विचार को समझे कोई बात स्वीकार न करना, और दूसरों से यह इच्छा न रखना के वि हमारी बात को समझे बिना ही हमारा बताया काम करने लगें। प्राय: आदमी, संस्थाएँ या सरकार चाहती है कि उनके आदेश का तुरन्त पालन किया जाय, चाहे उसे अमल में लानेवाले उसके मूलभूत विचार को ही नहीं समझें। इस पद्धति से काम तो होता है, पर लोगों की विचार-शक्ति जागृत नहीं होती, उनका विकास नहीं होता, वे जडवत् व्यवहार करते हैं, उनके काम में स्थिरता या स्थायित्व नहीं होता, उनके कार्यक्रम के भंग होने की आशंका बनी रहती है। इसलिए निरंतर और विविध प्रकार से प्रचार होते रहने की आवश्यकता है, इससे चाहे काम देर में हो, पर उसकी नींव ठोस होगी, और उसमें स्थायित्व होगा।

(२) सत्ता का विभाजन—जनशक्ति-निर्माण का दूसरा साधन सत्ता का विभाजन (विनोबा की भाषा में कर्तृत्व विभाजन) है। विनोबा ने अपने भाषणों

में बताया है कि 'सारा कर्तृत्व, सारी कर्मशक्ति एक केन्द्र में नहीं होनी चाहिए, बल्कि वह गांव-गांव में निर्माण होनी चाहिए। हरेक गांव को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि उस गांव में कौनसी चीज आये और कौनसी न आये। अगर कोई गांव चाहता है कि उस गांव में कोल्हू चले और मिल का तेल न आये तो गांव को उसे रोकने का हक होना चाहिए। इस पर अधिकारी कहते हैं कि इस तरह एक बड़ी स्टेट (राज्य) के अन्दर एक छोटी स्टेट नहीं चल सकती। तो हमारा कहना है कि अगर हम सत्ता का या कर्तृत्व का विभाजन नहीं करेंगे तो सेनाबल अनिवार्य है, और यह हमेशा अनिवार्य ही बना रहेगा। हम चाहते हैं कि गांव-गांव में सत्ता हो। गांव वाले निर्णय करें कि अमुक चीज हमको पैदा करनी है, और सरकार से मांग करें कि वह माल हमें नहीं मंगाना है, उसको रोकिए। अगर सरकार उसे नहीं रोकती तो गांव वालों को उसके विरोध में खड़े होने की हिम्मत करनी होगी। यह नहीं हो सकता कि दिल्ली में कोई ऐसी अक्ल पैदा हो जाय—चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो—कि हरेक गांव के सारे कारोबार का नियंत्रण और नियोजन वहां से हो और वह सारा का सारा सबके लिए लाभदायी हो। इस वास्ते नेशनल-प्लेनिंग (राष्ट्रीय आयोजन) के बजाय विलेज-प्लेनिंग (ग्राम-आयोजन) होना चाहिए। बेहतर तो यह कहना होगा कि नेशनल प्लेनिंग का ही अर्थ विलेज-प्लेनिंग होना चाहिए। इस प्रकार जनशक्ति निर्माण का दूसरा साधन कर्तृत्व अर्थात् सत्ता का विभाजन है।'

जनशक्ति-निर्माण की पद्धति; तीन प्रकार का परिवर्तन—जनशक्ति का निर्माण केवल बुद्धि के जोर से या मत परिवर्तन से नहीं हो सकता। इसके लिए तीन प्रकार का परिवर्तन आवश्यक है—

(१) मत परिवर्तन,
(२) हृदय परिवर्तन, और
(३) परिस्थिति परिवर्तन।

आचार्य श० द० जावडेकर ने लिखा है—"जो स्वभाव से सज्जन हैं, और समाज में न्याय-स्थापना होनी चाहिए, ऐसी जिनकी सहज वृत्ति है, उनका मत परिवर्तन सत्याग्रही लोकसेवकों के सतत विचार-प्रचार और सक्रिय नैतिक सहकार से तुरन्त हो सकता है। लेकिन जिनकी न्याय-बुद्धि रूढ़ व्यवहार पद्धति के कारण

मन्द और मलिन हो गयी है, उनका मत-परिवर्तन करने के पहले हृदय-परिवर्तन आवश्यक है। इसके लिए सत्याग्रह का अनत्याचारी असहकार और आत्म-क्लेश का मार्ग ग्रहण करके समाज का हृदय-परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों का नव-दर्शन करवाना पड़ता है। अपने इर्द-गिर्द के समाज में ऐसा हृदय-परिवर्तन हो सका और रूढ अन्याय के खिलाफ असहकार और सत्याग्रह करने का मार्ग अन्याय से पीड़ित जनता ग्रहण करने लगी, तो यह परिस्थिति-परिवर्तन सहज हो जायगा। परिस्थिति का परिवर्तन होने तक जिनका मत-परिवर्तन नहीं हुआ, उनका भी मत-परिवर्तन फिर इस नयी परिस्थिति के दर्शन से हो सकता है और वे भी क्रान्ति का विरोध करना छोड़ देते हैं। उनमें से कुछ तो क्रान्ति को सहकार देने के लिए भी आगे आते हैं। यह परिस्थिति निर्माण होने के पश्चात् क्रान्ति का मार्ग न कानून ही अवरुद्ध कर सकता है, न राजदंड; बल्कि कानून और राज-दंड उस क्रान्ति के पीछे जाकर उसका साथ ही देने लगते हैं। इस प्रकार मत-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन और परिस्थिति-परिवर्तन के रूप में क्रान्ति का त्रिकोण पूरा करके सत्याग्रही साधनों के द्वारा जो क्रान्ति की जायगी, वही सच्ची क्रान्ति होगी।" ['सर्वोदय', अगस्त १९५४]

श्री विनोबा ने कहा है—'जीवन का मूल्य जहां बदलना होता है, वहां पहले विचार-परिवर्तन आता है। उसके बाद हृदय-परिवर्तन का प्रसंग आता है। फिर साक्षात जीवन-परिवर्तन होता है। पहले व्यक्तियों का, फिर समाज का, और सबसे पीछे सरकार का। व्यक्तियों के विचार बदलते हैं और ऐसे बलवान व्यक्ति समाज में विचार फैलाते हैं। तब समाज में क्रान्ति होती है। उसका प्रति-बिम्ब स्वराज्य संस्था पर आता है।' फिर सरकार पर, यानी राज्य के शासन तंत्र पर आता है।' ['हरिजनसेवक', १८ दिसम्बर १९५४]

श्री जयप्रकाश नारायण के विचार—सब जानते हैं कि गांधीजी की प्रणाली हृदय-परिवर्तन की प्रणाली थी। श्री जयप्रकाशनारायण ने कहा है कि "गांधीजी एक नयी सभ्यता के निर्माण के लिए न केवल हिन्सा से दूर रहना चाहते थे, वह कानून पर एक प्रारम्भिक साधन के रूप में भी अवलम्बित होना नहीं चाहते थे। आगाखां महल में उन्होंने प्यारेलाल जी को कहा था, "जबतक हमारे हाथों में सत्ता नहीं, तबतक आवश्यकता के कारण हम विचार-परिवर्तन के अस्त्र को अपनायेंगे।

लेकिन मैं इस बात पर कायम हूँ कि सत्ता-प्राप्ति के बाद हम अपनी इच्छा से इस अस्त्र को अपनाएंगे। कानून बनने से पहले विचार-परिवर्तन आवश्यक है।' समझाना-बुझाना, हृदय तथा दिमाग का परिवर्तन, नये सामाजिक मूल्यों का निर्माण तथा उनके अनूकल वातावरण—जहां समझाना-बुझाना अपर्याप्त सिद्ध हो, वहां बुराई के साथ असहयोग—ये गांधीजी के हथियार थे। इनसे दो काम सिद्ध हुए—एक तो उन्होंने समाज को बदला; और दूसरे, व्यक्ति को। कानून से पहला काम हो सकता है, लेकिन दूसरा नहीं। उसने किसी दिल या दिमाग को नहीं बदला है, और कोई व्यक्ति जोर जबरदस्ती से गुणवान नहीं बना है। गांधीजी की परिवर्तन-प्रणाली इस विश्वास पर आधारित थी कि मनुष्य को सुधारा जा सकता है। यह विश्वास स्वयं एक अन्य विश्वास पर खड़ा था और उसके अनुसार सब व्यक्ति, चाहे उनकी बाह्य विभिन्नताएँ कुछ ही हों, मूलतः एक ही है, और वे वस्तुतः अच्छे हैं।"

जनशक्ति से कानून में सहूलियत—जनशक्ति कानून में बाधक न होकर, उसके लिए सहूलियत करती है, यह विनोबा के आगे के कथन से स्पष्ट हो जायगा। "सरकार कोई कानून बनाये और बिना मुआवजे के भूमि-वितरण का कोई मार्ग खोल दे इस दिशा में आप अपना वजन क्यों नहीं डालते ?'—ऐसा बहुत मर्तबा लोग मुझे पूछते हैं। मैं उनको कहता हूँ, एक तो मैं कानून को बाधा नहीं पहुंचा रहा हूं, और दूसरे मैं कानून को सहूलियत दे रहा हूँ। उसके लिए अनुकूल वातावरण बना रहा हूं, ताकि कानून आसानी से बनाया जा सके। पर इससे भी एक कदम आगे आपकी दिशा में जाऊं और यही रटन रटूं कि "कानून के बिना यह काम नहीं होगा, कानून बनाने चाहिए' तो मैं स्वधर्म विहीन साबित हूंगा। मेरा वह धर्म नहीं है। मेरा धर्म तो यह मानने का है कि बिना कानून की मदद के, जनता के हृदय में ऐसे भाव निर्माण करें ताकि कानून कुछ भी हो, लोग भूमि का बंटवारा करें। क्या किसी कानून के कारण माताएं बच्चों को दूध पिला रही हैं ? मनुष्य प्रेम पर भरोसा रखता है, प्रेम में से पैदा हुआ है, और प्रेम से पलता है। प्रेम की शक्ति का इस तरह अनुभव होते हुए भी उसको अधिक सामाजिक स्वरूप में विकसित करने की हिम्मत रखने के बजाय मैं अगर कानून कानून रटता रहूं तो जनशक्ति निर्माण करके सरकार हमसे जो मदद अपेक्षित करती है, वह मदद मैंने दी, ऐसा

नहीं होगा। इसलिए दंडशक्ति से भिन्न जनशक्ति मैं निर्माण करना चाहता हूं, और हमें वह निर्माण करनी चाहिए।"

जनशक्ति का उदाहरण; भू-दान आन्दोलन—जनशक्ति का एक अच्छा उदाहरण हमें विनोबा द्वारा संचालित भूदान आन्दोलन में मिलता है। जैसा श्री जयप्रकाशनारायण ने कहा है, 'इस आन्दोलन का उद्देश्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सरकार पर अधिकार कर उसका प्रयोग करना नहीं है। इससे यह भी सिद्ध है कि इसका उद्देश्य राजसत्ता प्राप्त करने के लिए एक राजनैतिक दल का गठन या स्वयं उसमें परिणत होना नहीं है। इस आन्दोलन का उद्देश्य तो जनता को यह समझाना-बुझाना है कि राज्य चाहे कुछ करे या न करे, लोगों को अपने जीवन में क्रांति करनी है और उनके जरिए समाज में क्रांति करनी है। इसके अतिरिक्त इसका उद्देश्य उन स्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें कि लोग दलों तथा सेन्सरों की मध्यस्थता के बिना अपने मामलों का स्वयं प्रबन्ध कर सकें।'

नोट—इस अध्याय में श्री विनोबा के जो विचार दिये गये हैं, वे पांचवें सर्वोदय सम्मेलन, चांडिल (सन् १९५३) के अवसर पर दिये हुए भाषणों से संकलित हैं। पूरे भाषणों के लिए सम्मेलन का कार्य-विवरण या सर्वोदय का मार्च-अप्रैल १९५३ का अंक देखिए।

चौथा खंड

सर्वोदय में राजगठन

यह (सर्वोदय) समाज ऐसा होगा, जिसमें सत्ता जनता के हाथ में होगी और वही उसका संचालन करेगी। केन्द्रीय शासन या तो न होगा या यदि होगा भी तो बहुत कम। जीवन-सम्बन्धित अधिकांश विषयों का शासन गांव के द्वारा होगा, उससे कम जिले के द्वारा, उससे भी कम प्रान्त के द्वारा, और सबसे कम केन्द्र के द्वारा। सत्ता भी इसी मात्रा और क्रम से विभिन्न क्षेत्रों में रहेगी। कानून से ऐसे समाज की रचना नहीं हो सकती। कानून और सर्वोदय समाज रचना में दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। सर्वोदय समाज में राज्य का अस्तित्व हो भी तो ऐसा कि व्यक्ति उसको अपने जीवन में अनुभव नहीं करता। राज्य हो ही नहीं तो बहुत अच्छा। आदर्श तो वही है, पर वह समाज राज्य-विहीन नहीं तो राज्य-निरपेक्ष तो जरूर होगा।

—जयप्रकाश नारायण

बारहवाँ अध्याय

निर्वाचन

स्वराज्य के मानी ऐसी सरकार, जो बालिग मताधिकार के आधार पर बनेगी। मताधिकार उन्हीं बालिगों को प्राप्त होगा, जिन्होंने शरीर-श्रम द्वारा राज्य की सेवा की होगी।

—गांधीजी

राष्ट्रीय सत्ता की बड़ी केन्द्रित इकाई की तुलना में, छोटी इकाई में मतदाता का मत अधिक प्रभावशाली होता है।

—जीवतराम कृपलानी

राज्य-संगठन का विचार करने में एक प्रश्न यह सामने आता है कि राज्य की नीति निर्धारित करने और नियम आदि बनाने वाले व्यक्तियों का चुनाव कैसे हो। इस प्रकार राजव्यवस्था में निर्वाचन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। सर्वोदय दृष्टि से निर्वाचन कैसे होना चाहिए, इसका विचार करने से पहले हम यह जान लें कि उसकी वर्तमान पद्धति कैसी है।

निर्वाचन की वर्तमान पद्धति बहुत दूषित है—वर्तमान निर्वाचन पद्धति के दोषों का उल्लेख दूसरे अध्याय में किया जा चुका है। संक्षेप में इसमें बेहद खर्च, शासन-भ्रष्टता, संकीर्णता के भावों की वृद्धि, धोखा और प्रलोभन होता है। लोगों में ईर्ष्या, द्वेष और कलह बहुत बढ़ जाता है, फूट की भावना फैल जाती है, और समाज का वातावरण बहुत गंदा हो जाता है। जब राजव्यवस्था की आधार-शिला इतनी दूषित हो तो राज्य का उद्देश्य ही कैसे पूरा हो सकता है !

सर्वोदय व्यवस्था में निर्वाचन किस तरह होगा ?—वर्तमान निर्वाचन पद्धति के इन दोषों पर विचार करने से जी चाहता है कि निर्वाचन प्रथा की जड़ ही

न रहे। परन्तु विधान सभा आदि का संगठन करना है तो उसके सदस्यों का निर्वाचन तो करना ही होगा। इस प्रकार सर्वोदय राजव्यवस्था में चुनाव का स्थान तो रहेगा ही परन्तु उसका रूप ऐसा बदल दिया जायगा कि उसमें वर्तमान दोष न रहें। इस प्रकार शासन की प्रारम्भिक इकाइयों अर्थात् ग्राम पंचायतों और नगर पंचायतों का चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर, प्रत्यक्ष रूप में होगा। पर मतदाता के लिए यह आवश्यक होगा कि वह शरीर-श्रम से निर्वाह करने वाला या काफी घंटे राष्ट्र की सेवा करनेवाला हो। यही बात नगर-पंचायतों के सम्बन्ध में होगी। उनका भी चुनाव प्रत्यक्ष होगा। ग्राम-पंचायतों और नगर-पंचायतों के सदस्य जिला-सभाओं के सदस्यों को चुनेंगे। जिला–सभाओं के सदस्य प्रादेशिक विधान-सभाओं का चुनाव करेंगे और विधान सभाओं के सदस्य केन्द्रीय संसद (पार्लिमेंट) के सदस्यों का चुनाव करेंगे। इस प्रकार जिला सभाओं, प्रादेशिक विधान-सभाओं और संसद का चुनाव परोक्ष रूप से होगा।

मतदाता की आयु और योग्यता–आजकल मतदाताओं की आयु के बारे में इतना ही विचार किया जाता है कि वे बालिग हों। उनकी उम्र की अधिकतम अवधि का कुछ नियम नहीं रहता। बालिग व्यक्ति साठ-सत्तर या अस्सी-सौ चाहे जितने वर्ष का हो, मतदाता हो सकता है। गांधीजी का विचार था कि केवल उन बालिगों को मतदाता बनने का अधिकार होना चाहिए जो पचास वर्ष तक के हों; इससे अधिक आयु वालों के हाथमें राजनीतिक शक्ति न हो, उनका केवल नैतिक प्रभाव हो।

वर्तमान अवस्था में मतदाता होने के लिए, आयु के अतिरिक्त, कोई योग्यता निर्धारित नहीं होती। पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि कोई ऐसा व्यक्ति मतदाता नहीं होना चाहिए जो मुफ्तखोर, परावलम्बी, बाप-दादा की कमाई खाने वाला तथा शरीर-श्रम से अरुचि रखने वाला हो। गांधी जी ने लिखा है कि, 'मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता सम्पत्ति या पद नहीं, शरीर-श्रम होना चाहिए...... साक्षरता या संपत्ति की कसौटी व्यर्थ साबित हुई है। शरीर-श्रम से उन सब को अवसर मिलता है, जो राज्य के हित में और शासन में भाग लेना चाहते हैं।' [यं० इं०, भा० २, पृ० ४३५-३६]

गांधी जी ने यह भी कहा है—"स्वराज्य से मेरा अर्थ है उन वयस्क स्त्री पुरुषों की अधिकतम संख्या की अनुमति द्वारा भारत का शासन जो भारत में

या तो उत्पन्न हों, या बस गये हों, जिन्होंने शरीर-श्रम द्वारा राज्य की सेवा की हो और जिन्होंने मतदाताओं की सूची में अपना नाम दर्ज करवाने का कष्ट उठाया हो।" (यं० इं०; भा० १, पृष्ठ ४८८-८९)

इस प्रकार सर्वोदय व्यवस्था में मतदाता के लिए केवल बालिग होना ही काफी नहीं है, वह शरीर-श्रम करने वाला और शरीर-श्रम द्वारा राज्य की सेवा करने वाला होना चाहिए।

उम्मेदवार की योग्यता—आजकल संविधानों में विधान सभाओं आदि की सदस्यता के उम्मेदवार के लिए आयु आदि की कुछ औपचारिक योग्यताएँ ही निर्धारित की जाती हैं; लोकसेवा आदि की योग्यताएँ निश्चित नहीं की जातीं। गांधीजी ने जैसी योग्यताएँ मतदाता के लिए सूचित की है, वैसी ही उम्मेदवार के लिए भी आवश्यक ठहरायी जानी चाहिए। इस प्रकार सर्वोदय व्यवस्था में उम्मेदवार वही व्यक्ति होना चाहिए जो शरीर-श्रम करता है और जिसने शरीर-श्रम द्वारा समाज की सेवा की हो।

स्मरण रहे कि सर्वोदय व्यवस्था में कोई व्यक्ति स्वयं उम्मेदवार बनने के लिए लालायित न होगा; दूसरों के बहुत आग्रह पर ही वह उम्मेदवार बनना स्वीकार करेगा। और, उम्मेदवार बनने पर वह किसी से मत मांगने नहीं जायगा और न अपने मित्रों वा एजेन्टों आदि से यह भिक्षा वृत्ति करायेगा।

परोक्ष चुनावों की विशेषता—पहले कहा गया है कि जिला-सभाओं, प्रादेशिक विधान-सभाओं तथा संसद का चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा। यह बात बहुत से आदमियों को प्रतिगामिता-सूचक यानी पीछे की ओर लौटानेवाली प्रतीत होगी। परन्तु इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार करने की जरूरत है। आजकल चुनाव किस तरह होते हैं और कैसी अनीति से जीते जाते हैं, उनमें पैसे की कितनी जरूरत होती है और पैसे के बल पर जनतंत्र को कहां तक दूषित किया जाता है—यह पहले लिखा जा चुका है। इन घातक दोषों से बचने के लिए विधान सभाओं और संसद के प्रत्यक्ष चुनाव छोड़ने ही पड़ेंगे। अस्तु, प्रत्यक्ष चुनाव केवल स्थानीय संस्थाओं तक परिमित रहेगा, जहां आदमी यह अच्छी तरह जानते हैं कि कौन व्यक्ति कैसे चरित्र और विचारवाला है।

इस प्रकार सर्वोदय व्यवस्था में निर्वाचन पद्धति का उपयोग बहुत सरल और सीमित होगा। निर्वाचक ऐसे ही सज्जन को अपना मत देंगे, जिसने सामाजिक

जीवन में ईमानदारी, परिश्रमशीलता, निष्पक्षता, और लोकहितैषिता का सबसे अधिक परिचय दिया हो, तथा जो लोभ, तृष्णा और परिग्रह से मुक्त हो। इस तरह विधान-संस्थाओं के सदस्यों का जीवन लोकसेवियों का जीवन होगा। उनके रहन सहन में सादगी होगी, वे साधारण पारिश्रमिक से सन्तुष्ट होंगे।

निर्वाचकों का कर्त्तव्य—राज्य में निर्वाचकों का उत्तरदायित्व स्पष्ट है। उन्हें अपने कर्त्तव्यों का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। उनका पहला काम तो यही होगा कि प्रत्येक निर्वाचक यह देखे कि उसका नाम निर्वचक-सूची में दर्ज हो गया है। इसके साथ ही यदि उसे किसी अन्य निर्वाचक का नाम सूची में आने से छूटा हुआ मालूम हो तो उसे उसका भी नाम दर्ज कराने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि किसी का नाम गलती से सूची में चढ़ा दिया गया है तो उस नाम को सूची से हटाने के लिए सम्बन्धित कर्मचारी को कह देना चाहिए, जिससे सूची पूरी हो, और उसमें कोई त्रुटि न रहे।

निर्वाचकों का दूसरा कार्य यह है कि वे निर्वाचन में अपना मत विवेकपूर्वक निष्पक्ष होकर दें। वे अपने आपको जाति-बिरादरी सम्प्रदाय और दलबन्दी आदि के तुच्छ और संकीर्ण विचारों से ऊपर रखें और ऐसे ही सज्जन को मत दें जो यथेष्ट योग्य और अनुभवी हो। सर्वोदय दृष्टि से, प्रत्यक्ष चुनाव गावों में होगा, जहां आदमी एक दूसरे के गुण, स्वभाव, चरित्र आदि से अच्छी तरह परिचित होते हैं। इसलिए निर्वाचकों को उक्त कार्य में कुछ कठिनाई न होगी।

जिला सभा के निर्वाचन में ग्राम-पंचों को, प्रादेशिक निर्वाचन में जिला-सभा के सदस्यों को, और केन्द्रीय निर्वाचन में प्रादेशिक विधान सभाओं के सदस्यों को मत देने का अधिकार होगा। इन्हें भी अपने उत्तरदायित्व को ध्यान में रखकर अपना कर्त्तव्य पालन करना है।

निर्वाचकों की शिक्षा—यों तो क्रमशः वातावरण ऐसा बन जायगा कि निर्वाचक अपना कर्तव्य अच्छी तरह पालन करें, तथापि उन्हें इस बातकी शिक्षा मिलती रहनी चाहिए। युवकों को अपने विद्यार्थी-जीवन में ही समझा दिया जाना चाहिए कि मताधिकार बहुत महत्वपूर्ण अधिकार है, और इसका उपयोग अच्छी तरह अपनी जिम्मेवारी समझ कर करना चाहिए। सिद्धान्तिक शिक्षा के साथ विद्यार्थियों को इस विषय की व्यवहारिक शिक्षा भी मिलनी चाहिए। वे विविध संस्थाओं के

पदाधिकारियों का चुनाव करें तो उनमें अपनी दृष्टि सार्वजनिक हित की ओर रखने के लिए प्रेरित किये जायं।

विद्यार्थियों के अतिरिक्त अन्य नागरिकों को निर्वाचन सम्बन्धी शिक्षा देने के लिए व्याख्यान, उपदेश, कथा-कहानियां, शिक्षाप्रद प्रहसन, नाटक, सिनेमा आदि की व्यवस्था रहनी चाहिए। लोगों को ऐसे ही व्यक्ति चुनने की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वराज्य प्राप्त कर लिया हो, अर्थात् जो अधिक से अधिक स्वावलम्बी जीवन बिताते हों, जो निस्स्वार्थ, योग्य, लोकसेवी और परिश्रमी हों, जो लोभ और भ्रष्टाचार से परे हों। निर्वाचक जो मत दें, वे प्रचार या कन्वेंसिंग के परिणाम-स्वरूप नहीं, उम्मेदवारों की लोकसेवा को देख कर दें। वास्तव में, किसी उम्मेदवार के पक्ष में प्रचार तो उसकी ओर से, अथवा उसके मित्र या रिश्तेदार आदि की ओर से, होना ही न चाहिए।

पक्ष-रहित चुनाव के क्षेत्र—वर्तमान दशा में चुनावों में विविध पार्टियों या पक्षों का बोलबाला होने से सार्वजनिक जीवन में कितनी गंदगी आयी हुई है, इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। सर्वोदय व्यवस्था में वह असह्य है। उसे हटाने के लिए तुरन्त ही क्या किया जाना चाहिए? इस विषय पर विचार करते हुए श्री विनोबा ने यह सुझाव दिया है कि म्युनिसपेलटी, ग्राम पंचायत और लोकल बोर्ड आदि में जहां जनसेवा के कार्य करने होते हैं, उनमें राजनीतिक वादों का बहुत सम्बन्ध न आता है न आना चाहिए। भिन्न भिन्न राजनीतिक पक्षों के लोगों को कोई एक सामान्य कार्यक्रम मिलना चाहिए जो सब को समान रूप से मान्य हो। वे लोग सज्जन हैं तो उनके बीच समान आचार का कार्यक्रम उपलब्ध होना चाहिए, जिसमें सब की एक राय होगी और जिस पर एक राय से जोर दिया जायगा। अगर यह व्यवस्था चले तो आज जिस तरह आचारों का संघर्ष होता है, वह नहीं होगा। प्रजा के सामने अनेक रायें रखी जाने से प्रजा का बुद्धि-भेद होता है, उसकी श्रद्धा स्थिर नहीं रहेगी। इस प्रकार ग्राम पंचायत, म्युनिस्पेलटी आदि में राजनैतिक पक्ष-भेद नहीं आने चाहिएँ। इन संस्थाओं के चुनाव के लिए जो भी मनुष्य खड़ा रहेगा वह सेवक के नाते ही खड़ा रहेगा, और लोग जिसे चुनेंगे उसे अच्छा सेवक मानकर ही चुनेंगे।[१]

---

[१] 'सर्वोदय' अप्रैल १९५४

तेरहवां अध्याय

ग्रामराज

साम्ययोग की कल्पना के अनुसार शासन गांव-गांव में बंट जायगा, यानी गांव-गांव में अपना राज्य होगा। मुख्य केन्द्र में नाम मात्र के लिए सत्ता रहेगी।

—विनोबा

ग्रामीण क्रान्ति देश को बनानेवाली है। शहरी क्रान्ति केवल मिल-मजदूरों द्वारा होती है, जो संख्या में थोड़े व शोषकों के पोषक होते हैं। मनुष्य-जीवन में शहर की कम-से-कम या नहीं के बराबर आवश्यकता है। परन्तु ग्राम हमारी मूलभूत आवश्यकता की चीज है।

—र० श्री० धोत्रे

शहरों की अपेक्षा गांवोंका महत्व अधिक—ग्रामराजका अर्थ है गांववालों की अधिकांश जरूरतें गांव में और गांव वालों द्वारा पूरी होना। इसका विचार करने से पहले यह बता देना जरूरी है कि शहरों की अपेक्षा गांव का महत्व अधिक क्यों है।

इस समय सभी राज्यों में थोड़े बहुत शहर हैं। बल्कि जिस राज्य में शहरों की संख्या और आबादी जितनी अधिक है, उतना ही वह अधिक सभ्य और उन्नत माना जाता है। इस दृष्टि से अमरीका और इंगलैंड की तुलना में भारत बहुत पिछड़ा हुआ माना जाता है और जब यहां प्रत्येक जन-गणना या मर्दुमशुमारी के समय शहरों की वृद्धि के आंकड़े सामने आते हैं तो अनेक आदमी इसे यहां की प्रगति का प्रमाण मानते हैं। परन्तु विचार कर देखें तो किसी राज्य में शहरों का बढ़ना इस बात का सबूत है कि उस राज्य में वहां की ग्रामीण जनता का, अथवा दूसरे देशों के आदमियों का शोषण बढ़ रहा है। पिछली सदी में यूरोप अमरीका का जो साम्राज्य-

वाद और उपनिवेशवाद भयंकर रूप से फैला, और जिसके कारण समय-समय पर युद्ध हुए तथा गत चालीस वर्ष में तो दो महायुद्ध हुए, उनका मूल शहरी सभ्यता में ही है। शहरों के कलकारखानों का माल ग्रामोद्योगों का नाश करके हाथ-कारीगरों का प्राण लेता है, और जब उससे भी काम नहीं चलता तो विदेशों में प्रभुता स्थापित करके भले-बुरे हिन्सक-अहिन्सक सभी तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं। कभी राजनैतिक चालें चली जाती हैं तो कभी आर्थिक रूप सामने रखा जाता है। अस्तु, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए, शोषणहीन और अहिन्सक समाज के लिए। ग्राम व्यवस्था का महत्व असंदिग्ध है। इस प्रकार बड़े-बड़े शहरों की वृद्धि और विस्तार मनुष्य जाति के व्यापक हित की दृष्टि से बहुत खतरनाक है।

भारत में गांवों का विशेष स्थान—एक अंगरेज राष्ट्र-सूत्रधार का कथन है कि प्रत्येक देश में सच्चा राष्ट्र तो झोपडियों में रहता है। वास्तव में किसी देश की आत्मा से साक्षात् करना हो तो हमें बड़े-बड़े विशाल भव्य भवनों वाले शहरों को छोड़ कर झोपड़ियों और मामूली कच्चे मकानो में रहने वाले जनसाधारण से मिलना-भेंटना चाहिए। फिर, भारत की तो अधिकांश अर्थात् पिचास्सी फीसदी जनता गांवों में ही निवास करती है। यद्यपि शहरों की वृद्धि हो रही है—जो बहुत चिन्तनीय है, भारत की असली तसवीर गांवों में ही देखने को मिलती है। वास्तव में भारत गांवों का देश है। इसीलिए गांधी जी सारा ध्यान गांवों पर केन्द्रित करते थे। इस विषय के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने मारिस फिडमेन से कहा था कि 'अगर हमारे देहात नष्ट हो गये तो हिन्दुस्तान का भी नाश हो जायगा। फिर वह सच्चा हिन्दुस्तान नहीं रह जायगा। संसार में उसका अपना कोई जीवन-संदेश नहीं रहेगा।'[१] उसी प्रकार विनोबा ने कहा है कि 'गांव दीखने में तो छोटे-छोटे हैं, लेकिन अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। ये देहात ही हिन्दुस्तान की रगें हैं, असलियत हैं, आत्मा हैं। हिन्दुस्तान की जो संस्कृति और सभ्यता है, वह देहातों में ही देखने को मिलती है। आज भी हमारी पुरानी सभ्यता जितनी हम देहात में पाते हैं, उतनी बड़े शहरों में नहीं पाते।'

---

[१] 'हरिजनसेवक' २९-८-३६

पारिवारिक भावना और सर्वोदय व्यवहार—शहरी जीवन में आदमी अपने धंधे से काम रखता है, थकान उतारने या दिल बहलानेके लिए सिनेमा, क्लब या नाटक-घर आदि का आसरा लेता है। अपने पड़ोसियों से बातचीत करने, उनके दुःख दर्द की फिक्र करने की उसे कुछ फुरसत भी हो तो रुचि नहीं होती। बहुत अर्सा बीतने पर भी आदमी को अपने मकान के दूसरे हिस्सों में रहने वालों की यथेष्ट जानकारी नहीं होती। ऐसी दशा में शहरी लोगों से अपने पड़ोसियों की हितचिन्तना आदि की क्या आशा हो सकती है !

इसके विपरीत, गांव की बात लीजिए। वहां प्रायः सब युवक और प्रौढ़ एक दूसरे को जानते हैं; उम्र के लिहाज से एक-दूसरे को भाई, चाचा, ताऊ, बाबा आदि कहते हैं। विवाह-शादी, बीमारी, हर्ष और शोक तथा तीज-त्योहार के अवसर पर एक-दूसरे का साथ देते हैं। यह ठीक है कि गत वर्षों में आर्थिक प्रतिकूलता तथा संघर्षमय वातावरण होने से उपर्युक्त परिस्थिति कुछ बदल गयी है, तथापि मूल भावना में अन्तर नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सर्वोदय दृष्टि से लोगों में जिस पारिवारिक भावना की आशा की जाती है, उसके लिए गांव ही अधिक अनुकूल हैं।

ग्रामराज का महत्व—राजसत्ता की बड़ी केन्द्रित इकाई में किसी मतदाता की आवाज कुछ विशेष प्रभावकारी नहीं होती। वहां बहुधा मतदाता का, जिस उम्मेदवार के बारे में वह मत देता है, उससे कुछ व्यक्तिगत परिचय नहीं होता। वह केवल पार्टी-नेताओं के आन्दोलन से प्रभावित हो कर, उनके समाचारपत्रो, ट्रैक्टों और अनेक प्रकार से किये जाने वाले विज्ञापनों के भ्रम में पड़ कर, अपना मत दे देता है; इसमें उसका कोई चेतन भाग नहीं होता। आचार्य कृपलानी के शब्दों में 'साधारण नागरिक राज्य-कार्य की प्रणाली को उतना भी नहीं जानता। जितना एक साधारण मजदूर अपने कारखाने के सम्बन्ध में जानता है। वह तो अपने को किसी पहिये के दंतुए के समान अनुभव करता है। थोड़ा-बहुत भी इस-लिए जानता है कि उसके जीवन पर उन गलत बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु वह कुछ करने-धरने में अपने को असमर्थ और निराश पाता है।'[१]

---

[१]'सर्वोदय', अक्तूबर १९५४

इसके विपरीत राज्य की गांव जैसी छोटी इकाई में मतदाता को अपनी शक्ति और उपयोगिता का भान होता है। पंचायत उससे विवेकपूर्ण सहयोग की आशा कर सकती है। ग्रामराज में व्यक्ति अपने आपको निर्जीव यंत्र का निर्जीव पुर्जा नहीं समझता, वरन् वह चेतन समाज का चेतन अंग होने का अनुभव करता है। इससे ग्रामराज का महत्व स्पष्ट है।

ग्राम-स्वराज्य का चित्र—ग्राम-व्यवस्था कैसी हो, इस विषय में गांधी जी ने लिखा था[1]—

'ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना तो यह है कि वह एक ऐसा पूर्ण प्रजातंत्र होगा, जो अपनी अहम जरूरतों के लिए अपने पड़ोसी पर भी निर्भर नहीं करेगा, और फिर भी दूसरी बहुतेरी जरूरतों के लिए—जिनमें दूसरों का सहयोग अनिवार्य होगा—वह परस्पर सहयोग से काम करेगा। इस तरह

(१) हर गांव का पहला काम यह होगा कि वह अपनी जरूरत का तमाम अनाज, और कपड़े के लिए कपास खुद पैदा कर ले।

(२) उसके पास इतनी फाजिल ज़मीन होनी चाहिए, जिसमें ढोर चर सकें और गांव के बड़ों व बच्चों के लिए मन बहलाव के साधन और खेल कूद के मैदान वगैरा का बन्दोबस्त हो सके।

(३) इसके बाद भी जमीन बची, तो उसमें वह ऐसी उपयोगी फ़सलें बोयेगा, जिन्हें बेच कर वह आर्थिक लाभ उठा सके; पर वह गांजा, तम्बाकू, अफीम वगैरा की खेती से बचेगा।

(४) हर एक गांव में गांव की अपनी एक नाटकशाला, पाठशाला और सभा भवन रहेगा।

(५) पानी के लिए उसका अपना इन्तजाम रहेगा—'वाटर-वर्क्स' होंगे—जिससे गांव के सभी लोगों को शुद्ध पानी मिला करेगा। कुओं व तालाबों पर गांव का पूरा नियंत्रण रख कर यह काम किया जा सकता है।

(६) बुनियादी तालीम के आखिरी दर्जे तक शिक्षा सब के लिए लाजिमी होगी।

---

[1] 'हरिजन सेवक,' २-८-४२

(७) जहां तक हो सकेगा गांव के सारे काम सहयोग के आधार पर किये जायेंगे।

(८) जातपांत और परंपरागत अस्पृश्यता के भेद जैसे आज हमारे समाज में पाये जाते हैं, वैसे इस ग्राम समाज में बिल्कुल न रहेंगे।

(९) सत्याग्रह और असहयोग के शस्त्र के साथ अहिंसा की सत्ता ही ग्रामीण समाज का शासन-बल होगा।

(१०) गांव की रक्षा के लिए ग्राम सैनिकों का एक ऐसा दल रहेगा, जिसे लाज़िमी तौर पर, बारी-बारी से, गांव के चौकी पहरे का काम करना होगा। इसके लिए गांव में ऐसे लोगों का एक रजिस्टर रखा जायगा।

(११) गांव का शासन चलाने के लिए हर साल गांव के पांच आदमियों की एक पंचायत चुनी जायगी। इस के लिए नियमानुसार एक खास निर्धारित योग्यता वाले गांव के बालिग स्त्री-पुरुषों को अधिकार होगा कि वे अपने पंच चुन लें। इन पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। चूंकि इस ग्राम स्वराज्य में आज के प्रचलित अर्थों में सज़ा या दंड का कोई रिवाज नहीं रहेगा, इसलिए यह पंचायत अपने एक साल के कार्यकाल में स्वयं ही धारासभा, न्याय-सभा और कार्यकारिणी सभा का सारा काम मिल कर करेगी।

ग्राम स्वराज्य और कल्याण राज्य—बहुधा लोगों के सामने कल्याण राज्य ('वेलफेयर स्टेट') की बात आती है। 'कल्याण राज्य' बहुत आकर्षक प्रतीत होता है। अतः यह विचार कर लेना ठीक होगा कि क्या कल्याण राज्य ग्राम-स्वराज्य की बराबरी कर सकता है, अथवा, दोनों में क्या अन्तर है। पहले यह जान लेना चाहिए कि कल्याण राज्य अथवा सामाजिक कल्याण का क्या अर्थ है। श्रीमती कोल के शब्दों में "सामाजिक कल्याण" का अर्थ इस मान्यता को स्वीकार करना और अमल में लाना है कि अपनी सीमाओं के भीतर रहने वाले सारे नागरिकों को अल्पतम जीवन मान का विश्वास दिलाना राज्यों की जिम्मेदारी है, और अगर इसका व्यापक अर्थ किया जाय तो इसमें देश की रक्षा और पुलिस के कर्तव्यों को छोड़ कर सरकार की सारी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए इसमें सरकार के सारे आर्थिक कानून आ सकते हैं—जैसे कर नीति, भावों की नीति, मजदूरी की नीति, व्यापार की नीति, पूंजी लगाने की नीति। क्योंकि खास-

कर समाज में परिवर्तन करने के लिए उत्सुक कोई सरकार जब इन पर अमल करती है तो ये सब नीति स्पष्ट रूप से नागरिकों के जीवन-मान पर असर डालती हैं।'

इस प्रकार जैसा कि श्री मगनभाई देसाई ने लिखा है—"कल्याण राज्य का अर्थ यह कि यह राज्य कुछ बातों को हमारे लिए कल्याण की मानता है; मान कर उनके लिए इन्तजाम करता है, इन्तजाम के लिए हमसे कर के रूप में पैसे लेता है, और ले कर उसके उपयोग के लिए नौकरशाही कायम करता है। वह हमारे जीवन-मरण के सारे व्यापार में दखल दे सकता है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि कल्याण-राज्य को किसी भी अर्थ में स्वतंत्रता नहीं मान सकते। हमें उसके प्रलोभन में पड़ कर अपना ध्यान ग्रामराज या ग्राम-स्वराज्य से नहीं हटाना चाहिए।

ग्राम-स्वराज्य के लिए लोकमत की तैयारी—ग्राम-स्वराज्य की योजना को अमल में लाने का काम न तो तानाशाही पद्धति से फरमान निकाल कर और न लोगों को डर दिखा कर हो सकता है, और न उस कानून से ही किया जा सकता है जो बहुमत के बल पर, और अल्पमत की उपेक्षा कर के बना करता है। सर्वोदय पद्धति में जोर जबरदस्ती, हिंसा या दमन तथा दलबन्दी आदि का कोई स्थान नहीं। इसमें तो जनता को समझा बुझा कर, उन्हें योजना के लाभ बता कर उसके लिए तैयार किया जाता है। जनता में सभी जातियों और सम्प्रदायों के आदमी आ जाते हैं; पुरुषों के साथ स्त्रियों का भी समावेश होता है। स्त्रियों को साथ में लेने की बात अकसर भुला दी जाती है, पर उनके सहयोग बिना किसी योजना का सफल होना सम्भव नहीं होता। प्रायः कार्यकर्ताओं की इच्छा यह रहती है कि योजना जल्दी से जल्दी अमल में आ जाय, वे जनता को शिक्षित करने का कष्ट उठाना नहीं चाहते, उनमें धीरज नहीं होता। पर उनकी अधीरता और उतावली ठीक नहीं, इससे योजना की सफलता अधूरी और क्षणिक ही होती है। यथेष्ट सफलता का एकमात्र मार्ग जनता को शिक्षित करना, लोकमत तैयार कर के जनता को योजना के लिए कार्य करने को उत्सुक बनाना है।

---

[1]'हरिजनसेवक', १४-८-१९५४

विशेष वक्तव्य—स्मरण रहे कि गांव में सब को मिल-जुल कर स्वावलम्बी इकाई के रूप में रहना चाहिए। गांव के झगड़े गांव में ही और गांव वालों द्वारा अर्थात् पंचायत द्वारा निपटने चाहिए। गांव में कोई भूखा या बीमार न हो। खेती का कोई भी मालिक न हो; सुभीते के लिए जमीन बांटी जाय पर उसका उत्पादन और मिल्कियत सब गांव वालों की हो। गांव के इस्तेमाल की प्रायः सभी चीजें गांव में पैदा की जायं, बाहर की वस्तुओं का वहिष्कार किया जाय। रोगियों के लिए प्राकृतिक और स्थानीय चिकित्सा पद्धति अपनायी जाय। अस्तु, ग्रामराज का आदर्श गांव भर को एक परिवार समझ कर उसके लिए सब को मिल कर आवश्यक साधन जुटाना है। हां, ग्राम समाज की यह दृष्टि रहनी चाहिए कि वह राष्ट्र ही नहीं, विशाल विश्व समाज का एक अंग है; पर इस विषय पर यहां अधिक लिखने का प्रसंग नहीं है।

चौदहवाँ अध्याय

स्थानीय और जिला पंचायतें

पंचायतों को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार रहेंगे। पंचायत अपने एक साल के कार्य-काल में स्वयं ही धारा सभा, न्याय-सभा और कार्य-कारिणी सभा का सारा काम मिलकर करे ी।

—गांधीजी

ग्राम ही स्वराज्य की इकाई रहे, और शिक्षा, न्याय, उत्पादन, स्वास्थ्य, पुलिस अकाल-निवारण जंगल आदि की, या करीब-करीब सभी प्रश्नों की व्यवस्था का अधिकार ग्राम-संस्था या ग्राम-मंडल का ही हो।

—लोकमान्य तिलक

स्थानीय स्वराज्य लोकतंत्र की किसी भी सच्ची पद्धति की बुनियाद है और होनी चाहिए।

—राजकुमारी अमृत कुंअर

गांव का सारा जीवन एक है। वहां होने वाले काम खेती, उद्योग, पशुपालन, शिक्षा, चिकित्सा और रक्षा—सब का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए ग्राम-पंचायतों के संगठन आदि का विचार करते हुए ध्यान में रखने की एक खास बात यह है कि ग्राम-जीवन को जुदा-जुदा हिस्सों में बांटना तथा एक समस्या को हल करते समय दूसरी समस्यायों की उपेक्षा करना ठीक नहीं। क्योंकि प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण हरेक गांव स्वावलम्बी या स्वयं पूर्ण होना आवश्यक नहीं है, इसलिए ग्राम-क्षेत्र को ही लोकराज्य की छोटी इकाई मानना चाहिए।

उसे मिलता हो, उससे वह जितने चाहे उतने नये उद्योग खोले और इसका खयाल रखे कि उसके क्षेत्र में बेकारी न हो।'[1]

पंचायतों का संगठन; ग्राम-सभाएं और उनकी कार्यकारिणी—पंचायतों के संगठन सम्बन्धी ब्योरेवार बातों का विचार देश-काल के अनुसार होगा। साधारणतया हरेक गांव में एक ग्राम-सभा हो। गांव के सब प्रौढ़ अर्थात् अठारह वर्ष या अधिक उम्र वाले स्त्री-पुरुष ग्राम-सभा के आजीवन सदस्य हों। हां, ऐसा कोई व्यक्ति ग्राम-सभा का सदस्य न हो, जो शारीरिक, मानसिक या नैतिक दृष्टि से उसके योग्य न माना जाय। ग्राम-सभा को 'अपने गांव की सामान्य राय जानने और उसे तामील करने की अपनी पद्धति का विकास खुद करना चाहिए। किसी जटिल और विवादास्पद विषय पर तीव्र मतभेद की हालत में निर्णय मत-पत्रिकाओं की गिनती से नहीं, किसी विश्वसनीय और उस विषय के निष्णात व्यक्ति की सम्मति के अनुसार या सिक्का उछाल कर किया जाय।'[2]

प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र की ग्राम-सभाएँ अपने-अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी कमेटी के लिए सदस्यों का चुनाव करेंगी। यह कार्यकारिणी उस ग्राम-क्षेत्र की पंचायत कही जायगी। इस प्रकार इस पंचायत का निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा। इसके सदस्यों की संख्या, क्षेत्र की ग्राम सभाओं के सदस्यों के अनुसार पांच या अधिक होगी। पर उसकी अधिक-से-अधिक संख्या की ऐसी मर्यादा रहनी चाहिए कि कार्य-संचालन में सुविधा हो। उदाहरण के लिए यह अधिक-से-अधिक संख्या २१ ठहरायी जा सकती है।

पंचायत दलगत राजनीति से दूर रहेगी—पंचायतों की सफलता इस बात पर निर्भर होती है कि उनको ग्राम के सब तत्वों का विश्वास कहां तक प्राप्त होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पंचायतें दलगत राजनीति से अलग रहें, उनका चुनाव दलबन्दी के आधार पर न हो, पंच सर्वसम्मति से चुने जायं। भारत में दो प्रमुख राजनीतिक दलों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल ने यह निश्चय कर लिया है कि पंचायतों को दलगत राजनीति से दूर रखना चाहिए।

---

[1] 'भावी भारत की एक तस्वीर'

[2] श्री किशोरलाल मश्रूवाला, 'भावी भारत की तसवीर' में।

पंचायत के लिए ग्राम-क्षेत्र की इकाई—पंचायती व्यवस्था की दृष्टि से कितने ग्राम-क्षेत्र की एक इकाई मानी जाय, यह गांव की आबादी, एक गांव से दूसरे गांव की दूरी, और खेती तथा उद्योगों की स्थिति आदि पर निर्भर है। यदि बस्ती घनी और अधिक है तो इकाई कम गांवों की, यहां तक कि एक गांव की भी हो सकती है। अगर आबादी थोड़ी-थोड़ी है तो इकाई में कई गांवों को ले सकते हैं। अगर गांवों का एक दूसरे से फासला बहुत है तो आबादी कम होने पर भी थोड़े ही गांव लेने होंगे। इसी प्रकार जिन पास-पास के गांवों में आदमियों की खेती या ग्रामोद्योग परस्पर सम्बन्धित है, उन्हें एक सीमा तक एक ही इकाई में लिया जाना ठीक होगा। निदान, पंचायत सुविधा-पूर्वक कार्य कर सके, पंच लोग अपने पदों के निवासियों से अच्छी तरह परिचित हों, उनकी आवश्यकताओं, अभावों, विचारों तथा भावनाओं का यथेष्ट ज्ञान रखते हों, उतने-उतने क्षेत्र की एक ग्राम-पंचायत होनी चाहिए। उसका लक्ष्य ग्राम-स्वावलम्बन होना चाहिए। स्वावलम्बन की दृष्टि से ग्राम में एक कस्बा या छोटा शहर भी हो तो अच्छा है।

इस प्रसंग में श्री किशोरलाल मश्रूवाला के विचार जानना उपयोगी होगा। उन्होंने लिखा था—'हमारा पहला काम तो हर छोटी इकाई को राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से यथासंभव ज्यादा से ज्यादा विषयों में स्वावलम्बी व स्वाश्रयी बनने की जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार करने का है। उदाहरण के लिए यह घोषणा कर दी जाय कि पांच वर्ष बाद—कहें कि १ अप्रैल १९५८ से—पूरा देश उचित आकार-प्रकार के फिरकों (छोटे ग्राम-क्षेत्रों) में बांट दिया जायगा। हर फिरके में एक छोटा शहर और उसके आसपास ५–१० मील के घेरे में आने वाले गांव होंगे और उसे अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक सत्ता सौंप दी जायगी। वह अपनी पुलिस रखेगा, चोर-डाकुओं से अपनी रक्षा खुद करेगा, न्याय और शिक्षा की व्यवस्था करेगा और अपने कर लगाएगा। वह अपना संविधान खुद बनायेगा। संविधान के कुछ नमूने, जो विविध प्रदेशों के काम आ सकते हों, उसे बताये जा सकते हैं। फिरका, सामान्य परिस्थिति में, कम-से-कम अन्न, वस्त्र, तिलहन, घर-द्वार, पशुधन, खाद और रास्तों के विषय में स्वयंपूर्ण और स्वाश्रयी हो। उस पर ऊपर की इकाइयों के निर्वाह के लिए अपनी आय का सिर्फ एक निर्धारित अंश ही देने की जिम्मेदारी होनी चाहिए। उसे अधिकार होना चाहिए कि जो कच्चा माल

से मिलता हो, उससे वह जितने चाहे उतने नये उद्योग खोले और इसका खयाल खे कि उसके क्षेत्र में बेकारी न हो।'[१]

पंचायतों का संगठन; ग्राम-सभाएं और उनकी कार्यकारिणी—पंचायतों के संगठन सम्बन्धी ब्योरेवार बातों का विचार देश-काल के अनुसार होगा। ाधारणतया हरेक गांव में एक ग्राम-सभा हो। गांव के सब प्रौढ़ अर्थात् अठारह र्ष या अधिक उम्र वाले स्त्री-पुरुष ग्राम-सभा के आजीवन सदस्य हों। हां, ऐसा ोई व्यक्ति ग्राम-सभा का सदस्य न हो, जो शारीरिक, मानसिक या नैतिक दृष्टि उसके योग्य न माना जाय। ग्राम-सभा को 'अपने गांव की सामान्य राय जानने ौर उसे तामील करने की अपनी पद्धति का विकास खुद करना चाहिए। किसी ाटिल और विवादास्पद विषय पर तीव्र मतभेद की हालत में निर्णय मत-पत्रिकाओं ी गिनती से नहीं, किसी विश्वसनीय और उस विषय के निष्णात व्यक्ति की सम्मति ; अनुसार या सिक्का उछाल कर किया जाय।'[२]

प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र की ग्राम-सभाएँ अपने-अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी मेटी के लिए सदस्यों का चुनाव करेंगी। यह कार्यकारिणी उस ग्राम-क्षेत्र की ंचायत कही जायगी। इस प्रकार इस पंचायत का निर्वाचन प्रत्यक्ष होगा। इसके ादस्यों की संख्या, क्षेत्र की ग्राम सभाओं के सदस्यों के अनुसार पांच या अधिक ोगी। पर उसकी अधिक-से-अधिक संख्या की ऐसी मर्यादा रहनी चाहिए कि ार्य-संचालन में सुविधा हो। उदाहरण के लिए यह अधिक-से-अधिक संख्या २१ ठहरायी जा सकती है।

पंचायत दलगत राजनीति से दूर रहेगी—पंचायतों की सफलता इस बात र निर्भर होती है कि उनको ग्राम के सब तत्वों का विश्वास कहां तक प्राप्त होता ै। इसलिए यह आवश्यक है कि पंचायतें दलगत राजनीति से अलग रहें, उनका ुनाव दलबन्दी के आधार पर न हो, पंच सर्वसम्मति से चुने जायं। भारत में दो मुख राजनीतिक दलों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल ने ह निश्चय कर लिया है कि पंचायतों को दलगत राजनीति से दूर रखना चाहिए।

---

[१]'भावी भारत की एक तस्वीर'

[२]श्री किशोरलाल मश्रूवाला, 'भावी भारत की तसवीर' में।

इंगलैण्ड की स्थानीय शासन संस्थाओं में इस प्रकार की परम्परा स्थापित हो गयी है, भारत तथा अन्य देशों में भी ग्राम-पंचायतों के लिए ऐसी परम्परा स्थापित करना कठिन नहीं होना चाहिए। अस्तु, पंचों का चुनाव उनकी योग्यता पर निर्भर होगा और पंचायत में सर्वश्रेष्ठ नर और नारियों को भेजा जायगा। इसमें जाति-बिरादरी या सम्प्रदाय आदि का कोई विचार न होगा। हां, अगर संयोग से कोई जाति पिछड़ी हुई होगी तो उसका यथेष्ट प्रतिनिधित्व रखने का विचार किया जायगा (और ऐसी व्यवस्था की जायगी कि यह जाति जल्दी से जल्दी अन्य जनता के स्तर पर आ जाय)। चुनाव सर्वसम्मति से हो, ऐसा प्रयत्न किया जायगा।

पंचायतों का काम—राज्य में सरकार तीन तरह के काम करती है—(१) कानून बनाना, (२) कानून पर जनता से अमल कराना अथवा प्रबन्ध या प्रशासन और (३) न्याय करना। ग्राम-क्षेत्रों में ये तीनों प्रकार के कार्य पंचायतें ही करेंगी। वे अपने क्षेत्र में आवश्यक नियम कायदे बनाने के अतिरिक्त प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, रक्षा, सफाई, खेती, ग्रामोद्योग आदि सम्बन्धी जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करेंगी। ये गांव की सड़क, कुएं, तालाब, खाद, वाचनालय, पुस्तकालय, पाठशाला, व्यायामशाला आदि का आयोजन करेंगी और सांस्कृतिक तथा चारित्रिक विकास की ओर ध्यान देंगी, जिससे गांव वाले एक-दूसरे के साथ समुचित सहयोग की भावना रखते हुए ग्रामोत्थान में भाग ले सकें।

श्री विनोबा ने गांवों में रामराज्य स्थापित करने के लिए पंचायतों के पांच काम बताये हैं[१]—

१—हर पंचायत में एक स्वाध्याय मंडल की स्थापना होनी चाहिए, जिसमें लोगों को नये विचारों और नयी घटनाओं से अवगत कराया जाय। यहां सर्वोदय साहित्य और गांधी साहित्य पढ़ कर लोगों को सुनाया जाय और समझाया जाय।

२—पंचायतों को उत्पादन में वृद्धि करनी चाहिए, जिससे गांव में फैली हुई बेकारी दूर हो।

---

[१] 'हरिजन सेवक', ११ सितम्बर १९५४

३—पंचायतों को चाहिए कि उनके क्षेत्र में न तो कोई बेकार रहे और न भूखा। जिस तरह से विदेशी माल के बहिष्कार से स्वराज्य प्राप्त हुआ, उसी तरह मिलों में बने माल के बहिष्कार से ग्राम-स्वराज्य या ग्राम राज्य आयेगा।

४—उत्पादन का प्राथमिक आधार भूमि है, इसलिए गांव की जमीन अवश्य बँटनी चाहिए। जमीन गांव की होनी चाहिए और कहीं भी कोई भूमिहीन नहीं रहना चाहिए।

५—पंचायतों की वास्तविक शक्ति जनमत है। पंचायतों को गांवों के लोगों की इच्छा के अनुसार और उनके नियंत्रण में चलना चाहिए। सरकार चाहे मान्यता दे या न दे, इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। लोगों को अपनी शक्ति और बल पर भरोसा करके आगे बढ़ना चाहिए।

अब हम पंचायतों के कुछ कार्यों के विषय में जरा खुलासा विचार करते हैं।

शिक्षा—शिक्षा के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह हमारी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति, तथा मानव विकास में सहायक होनी चाहिए। शिक्षा केवल मानसिक व्यायाम या दिमागी ऐयाशी न हो। ज्ञान रचनात्मक प्रवृत्तियों द्वारा दिया जाय, जीवनोपयोगी विषयों की ही शिक्षा दी जाय, और उसमें उन आवश्यक दस्तकारियों की सहायता ली जाय, जिन्हें सीख कर गाँव और नगर के आदमियों के जीवन में स्वावलम्बन का उदय हो। हमें समाज में अपनी बुनियादी आवश्यकताओं के लिए खेती के अतिरिक्त खासकर गृह उद्योग और ग्रामोद्योगों की आवश्यकता होगी। एक सीमा तक राष्ट्रउद्योग भी रहेंगे। शिक्षा में तीनों प्रकार के उद्योगों की व्यवस्था रहेगी। यह कुछ इस प्रकार हो सकता है बुनियादी शिक्षा में गृह उद्योग, उत्तर-बुनियादी में ग्रामोद्योग, और उत्तम बुनियादी में राष्ट्र-उद्योग। खेती का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वह शिक्षा के तीनों वर्गों में चल सकता है।

यह आवश्यक है कि हमारे विद्यार्थियों में सहयोग, लोकसेवा, सदाचार की भावना हो। उनमें लोभ-लालच, स्वार्थ या असंतोष का रोग घर किये हुए न हो और वे अपने जीवन का ध्येय ऊँचा रखने वाले हों। ऐसा होने पर ही शिक्षा सार्थक होगी, और वह कुछ थोड़े से फीसदी लोगों तक परिमित न रह कर उसका प्रकाश गाँव-गाँव और घर-घर पहुँचेगा, और इसके लिए सार्वजनिक कोष पर भी बहुत भार न पड़ेगा।

स्वास्थ्य और सफाई—लोगों को अपना स्वास्थ्य स्वयं ठीक रखने और बीमार न पड़ने की, तथा यदि कभी संयोग-वश बीमार पड़ जायं तो साधारणतया स्वयं ही इलाज कर लेने की, शिक्षा दी जानी चाहिए। रोज-रोज बीमार पड़ना अपमान-जनक है। साधारण छोटी-छोटी बीमारियों के लिए अस्पतालों की शरण लेना आवश्यक नहीं होना चाहिए। घर में ही उसका इलाज हो जाना चाहिए, और उचित शिक्षा से हो सकता है। इस प्रकार अस्पतालों और शफाखानों की आवश्यकता बहुत कम रहे, तथापि उनकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि कुछ खास बड़े-बड़े शहरों के थोड़े से आदमियों को ही नहीं, सर्वसाधारण को उनकी सेवाएँ सुलभ हों। मातृ-मन्दिर भी स्थान-स्थान पर होने चाहिएँ। इनके संचालक और कार्यकर्ता आज-कल की तरह लोभी या पेशेवर न होकर सेवा-भाव से प्रेरित हों, उनके हृदय में प्रेम और वात्सल्य की निर्मल धारा बहती हो, वे प्राकृतिक चिकित्सा और प्राकृतिक जीवन-पद्धति का जनता में प्रचार करते हुए उसे निरोग रखने के लिए कटिबद्ध हों। ऐसी व्यवस्था होने से साधारण खर्च से ही पंचायतें तथा प्रादेशिक सरकार इस विषय में अपना कर्तव्य पूरा कर सकती है।

स्वास्थ्य-सुधार के लिए सफाई की आवश्यकता स्पष्ट ही है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के शरीर की सफाई के अतिरिक्त घर-बार, गली मोहल्लों, सड़कों तथा बस्ती के आसपास की सफाई सम्मिलित है। इस समय कूड़े-करकट और मल-मूत्र गोबर और हड्डियों आदि के रूप में बहुमूल्य सम्पति नष्ट हो रही है, और इससे स्वास्थ्य को जो क्षति पहुँचती है, वह रही अलग। प्रत्येग गांव या नगर में पंयायतों द्वारा इन चीजों का खाद बनाया जाने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे खाद्य पदार्थों की पैदावार में वृद्धि हो और जनता का स्वास्थ्य भी सुधरे। गाँव में पशुओं के रहने की व्यवस्था को ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए; सर्वोदय व्यवस्था में पंचायतें इस कार्य को जनता के सहयोग से कुशलता-पूर्वक करेंगी।

पारिवारिक भावना की वृद्धि—खास बात यह है कि पंचायतों को पारिवारिक भावना से काम करना और इसे गाँव वालों में बढ़ाना है। उन्हें ध्यान रखना है कि गांव में कोई आदमी ऐसा न हो जिसके लिए आजीविका के साधन सुलभ न हों या जो शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था से यथेष्ट लाभ न उठा सके। विविध

वस्तुओं का जो उत्पादन हो, वह गाँव भर के आदमियों की जरूरत और हित की दृष्टि से हो; किसी व्यक्ति विशेष के स्वार्थ-साधन के लिए नहीं। भूमि की उपज सामूहिक रूप से गांव की होगी, उसमें से प्रत्येक परिवार को उसके श्रम के अनुसार हिस्सा मिलेगा। भोजन, वस्त्र, दूध, ईंधन आदि के लिए गाँव की आत्म-निर्भरता की दृष्टि रहेगी। उत्पादन-पद्धति में मानव शक्ति के (और उसके साथ बैल आदि पशुओं के) यथेष्ट उपयोग का ध्यान रखा जायगा। जो पद्धति या यंत्र उन्हें बेकार करने वाला या उनकी बेकारी बढ़ाने वाला होगा, वह काम में नहीं लाया जायगा। पानी खींचने, नयी जमीन तोड़ने और गहरा या स्थायी घास फूस हटाने में अपवाद रूप से यंत्रों का इस्तेमाल हो सकेगा

न्याय कार्य—पंचायतों के न्याय कार्य के सम्बन्ध में स्मरण रहे कि जब सर्वोदय व्यवस्था में लोगों की मूल आवश्यकताएँ पूरी होती रहेंगी, और उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा संस्कार से उनका सांस्कृतिक धरातल ऊंचा रहेगा तो वे अपराध बहुत कम ही करेंगे, मामलें मुकदमों का प्रसंग बहुत कम आएगा; न्याय विभाग का कार्यभार बहुत ही हल्का होगा। अस्तु, किसी ग्राम या नगर के अपराधियों का विचार स्थानीय पंचायत के सदस्य ही करेंगे। उस अवस्था में कोई भी व्यक्ति बिना पढ़ा न होगा, इसलिए पंच भी पढ़े-लिखे होंगे, परन्तु उनकी योग्यता की दृष्टि से यह कोई महत्व की बात न होगी कि कानून के विद्वान या पंडित हों। वे तो जीवन क्षेत्र के बड़े अनुभवी और गाँव तथा उसके आसपास के सामूहिक, पारिवारिक और वैयक्तिक जीवन के जानकार होंगे। उन्हें मनोविज्ञान में यथेष्ट कुशलता प्राप्त होगी। इनके द्वारा न्याय कार्य जल्दी-जल्दी होता रहेगा।

कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण—पंचायतों को अपने क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य करना है, उसे कराने के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था रहेगी। ऐसा पाठ्यक्रम निर्धारित किया जायगा जिसके अन्तर्गत कुछ चुने हुए व्यक्तियों को कृषि, बुनियादी तालीम, गांव सफाई, प्राकृतिक चिकित्सा, गृह निर्माण, स्थानीय उपयोगिता वाली दस्तकारी, संस्था-संचालन, सभा संगठन आदि विषयों का साधारण सिद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञान हो जाय। पीछे कुछ-कुछ शिक्षार्थी इनमें से किसी एक-एक विषय की विशेष कुशलता प्राप्त करेंगे। इस कार्य में उन सार्वजनिक संस्थाओं से यथेष्ट लाभ उठाया जायगा जो

उसके प्रदेश में या निकट के अन्य प्रदेश में यह कार्य कर रही होंगी और प्रशिक्षण देने योग्य होंगी।

पंचायतों का आय-व्यय—पंचायत अपने क्षेत्र के आदमियों से विविध कर वसूल करेगी और अपनी आय में से प्रदेश और केन्द्र को कुछ खास कामों के लिए देकर शेष का स्वयं उपयोग करेगी। दृष्टि यह रहेगी कि गांवों का अधिकांश धन गांवों में ही, और स्वयं गांव वालों द्वारा ही खर्च हो; अर्थात् गांवों से होनेवाली आय पर प्राथमिक अधिकार पंचायतों को हो। वे स्थानीय आवश्यकताओं को जितना समझ सकती हैं और अनुभव कर सकती हैं, उतना दूर रहनेवाली प्रादेशिक या केन्द्रीय सरकार नहीं कर सकती। यही बात आय के सम्बन्ध में है। ग्राम-पंचायत अपने क्षेत्र के आदमियों की स्थिति या हैसियत आदि का जितना ज्ञान रखती है, उतना सरकार को कदापि नहीं हो सकता। इसलिए आय और व्यय पर उनका यथेष्ट अधिकार होना ही चाहिए। जब वे स्वयं अपनी ओर से कर वसूल करेंगी और आय को अपनी इच्छानुसार स्थानीय कार्यों में खर्च करेंगी तो उनमें जीवन आयेगा और खेती, उद्योग, शिक्षा, न्याय आदि विभागों का केन्द्रीकरण समाप्त होगा, जिसकी राज्य-हित या मानवता के विकास के लिए बहुत ही जरूरत है।

प्रायः पंचायतों की आय की मदें ये होंगी—(१) भूमिकर (२) गांव की सम्मिलित सम्पत्ति, जंगल आदि से होनेवाली आय, (३) व्यवसाय कर, (४) हाट, बाजार, मेले आदि से होनेवाली आय (५) दुकान-कर, (६) दान आदि सार्वजनिक सहायता। पंचायतों को श्रम-कर से भी आय होगी, पर प्रायः आदमी स्वेच्छापूर्वक ही श्रम-दान करेंगे।

पंचायतों की व्यय की मदें इस प्रकार होंगी—(१) बुनियादी शिक्षा, सफाई स्वास्थ्य, चिकित्सा, न्याय, (२) विकास योजनाएं—सांस्कृतिक आर्थिक सामाजिक, (३) सुरक्षा, गांव की सम्मिलित सम्पत्ति, जंगल, तालाब, आबादी, भूमि आदि।

पंचायतें कर निर्धारित करने, उन्हें वसूल करने तथा उनसे होने वाली आय को ग्राम हित के लिए खर्च करने में स्वतंत्र होंगी, पर उनका कर्तव्य होगा कि वे प्रदेश के हित का ध्यान रखें और प्रदेश भर में यथा-सम्भव एकरूपता बनाये रखें। इसलिए यह जरूरी होगा कि वे प्रादेशिक सरकारों के पथ-प्रदर्शन और सलाह मशविरे से काम करें।

पंचायतों के अधिकार और सरकार से सम्बन्ध—पहले कहा जा चुका है कि पंचायतें निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनेंगी। इसलिए अधिकारों का मूलश्रोत उनमें ही होगा। ऊपर की इकाइयाँ—प्रादेशिक सरकारें और केन्द्रीय सरकार उन्हीं अधिकारों का उपयोग करेंगी जो उन्हें पंचायतों द्वारा दिये जायंगे। शेष अधिकार (रेसिड-यूअरी पावर्स) पंचायतों के ही होंगे। इन अधिकारों से सम्पन्न वे लोक-राज्य की छोटी इकाई, अथवा छोटी से छोटी सम्पूर्ण सरकार होंगी।

सर्वोदय व्यवस्था में प्रत्येक पंचायत यह ध्यान रखेगी, कि वह राज्यरूपी विशाल परिवार का एक अंग है। इसलिए उसका कोई काम राज्य के हित के विरुद्ध होने की कोई बात ही नहीं है, वह तो राज्य की भरसक सेवा और सहायता करेगी। वह प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकार को गांव के लिए किये जाने वाले कार्यों के बदले अपनी आय में से आवश्यक भाग देना अपना कर्तव्य समझेगी। इसके अतिरिक्त वह जरूरत के मुताबिक उनके उस खर्च में भी हाथ बंटायेगी जो उनके द्वारा प्रदेश या देश भर के लिए किया जायगा। पंचायत अपने क्षेत्र में राज्य के अधिकांश कार्य करेगी, पर जब जिन मामलों में प्रादेशिक या केन्द्रीय सरकार से मिल कर कार्य करने की आवश्यकता होगी, उस समय उन मामलों में पंचायत उनसे यथेष्ट सहयोग और उसकी समुचित व्यवस्था करेगी।

नगर-पंचायतें—ग्राम-पंचायतों के सम्बन्ध में जो बातें ऊपर कही गयी हैं, वे नगर-पंचायतों के संगठन में भी ध्यान रखने की है। वर्तमान दशा में कुछ नगर (जैसे भारत में कलकत्ता, कानपुर, बम्बई आदि) इतने बड़े क्षेत्र और आबादी वाले हो गये हैं, कि वहाँ के अनेक आदमियों का एक दूसरे से विशेष सम्पर्क नहीं रहता। पंचायत-निर्माण की दृष्टि से ऐसे बड़े नगरों को कई-कई स्थानीय इकाइयों में विभाजित करना, और एक-एक इकाई के लिए एक उपनगर-पंचायत तथा सब उपनगर-पंचायतों द्वारा एक सम्मिलित नगर-पंचायत बनाया जाना उचित होगा। प्रत्येक नगर पंचायत का काम अपने-अपने क्षेत्र में जनता की प्रमुख आवश्यकताओं की व्यवस्था करने के साथ यह देखना होगा कि उसका पास की ग्राम्य या नागरिक जनता के हित से विरोध न हो। नगर में कोई ऐसा उद्योग-धंधा न हो, जो गाँवों के शोषण के आधार पर संचालित हो। नगर में होनेवाला उत्पादन गाँव के उत्पादन का पूरक और समन्वयकारक ही होना चाहिए। नगरों के आदमी शिक्षा आदि में

अपने ग्रामीण भाइयों से आगे बढ़े हुए हों तो उनपर सेवा-कार्य का उत्तरदायित्व अधिक है, और उन्हें अपने ग्रामीण भाइयों की अल्पज्ञता से अनुचित लाभ न उठाकर उनको अपने धरातल पर लाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। गाँव और नगर वालों की भेद-भाव सूचक खाई को पाटना नगर-पंचायत का एक आवश्यक कर्तव्य है।

जिला-पंचायतें—ग्राम और नगर पंचायतों के क्षेत्रों से बड़े क्षेत्रों में सामूहिक काम करनेवाले संगठन जिला-पंचायतें होंगी। इनके सदस्यों का निर्वाचन ग्राम और नगर पंचायतों के सदस्य करेंगे, अर्थात् यह चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा। जिला-पंचायतों का कार्य अपने जिलेभर की ग्राम-पंचायतों का सामंजस्य रखना और अपने क्षेत्र के लोगों की ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा जो उनके अपने-अपने गांव में सुविधा-पूर्वक न हो सके। जिला-पंचायतें गांव वालों के सामने अपने स्थानीय हित को जिले के व्यापक हित में मिलाने की प्रेरणा करेंगी। ये ग्राम-पंचायतों का प्रादेशिक सरकार से सम्बन्ध स्थापित करने में मध्यस्थ का काम देंगी।

कांग्रेस 'ग्राम-पंचायत कमेटी' की रिपोर्ट (सन् १९५४) में कहा गया है कि 'इन मध्यवर्ती संस्थाओं को कुछ कार्यवाहक जिम्मेदारियाँ भी दी जा सकती हैं। बेहतर है कि ऐसी संस्थाएँ तहसील के स्तर पर बनायी जायं; वैसे जिलों के स्तर पर या अन्य सुगम स्तर पर इनका बनाना वर्जित नहीं है। ऐसी मध्यवर्ती संस्थाएँ नामजद न हों, पर उनको सरपंच लोग अप्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुनें। कुछ टेकनिकल विशेषज्ञ उनके काम के साथ जोड़े जा सकते हैं, पर उनको वोट देने का अधिकार नहीं होना चाहिए'।

स्वशासन अधिकार की आवश्यकता—बहुत से आदमियों के मन में यह आशंका होगी कि पंचायतें ऊपर बताये हुए कामों को करने योग्य नहीं हैं, वे अपने कर्तव्य-पालन में भयंकर गलती करेंगी। परन्तु स्वशासन का अर्थ ही गलती करने का अधिकार और अपनी गलती को सुधारने का अवसर है। निदान, स्वशासन की शिक्षा पंचायतों को इस विषय के यथेष्ट अधिकार होने से ही मिल सकती है।

सर्वोदय व्यवस्था में समाज का आदर्श शोषणहीन, शासन-मुक्त और समरस बनना है। इसके लिए आर्थिक तथा राजनैतिक विकेन्द्रीकरण अत्यन्त आवश्यक है,

यह पहले बताया जा चुका है। इस दिशा में असली काम ग्रामराज स्थापित करना और पंचायतों को आधुनिक राज्य के अधिक से अधिक काम सौंप कर बहुत-कुछ स्वायत्त और स्वावलम्बी इकाई बनाना है। यह ध्यान में रख कर स्थानीय पंचायतों को यथेष्ट अधिकार सम्पंन्न बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाना ही होगा।

विशेष वक्तव्य—पंचायतों का काम अच्छी तरह होने पर जनता के सुख-सुविधा और उन्नति की बहुत-कुछ व्यवस्था अपने-अपने स्थानीय क्षेत्रों में हो जायगी। फिर प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकार को विशेष करना धरना नहीं रहेगा; उनका कार्य-भार बहुत हल्का हो जायगा। तथापि उनकी कुछ आवश्यकता रहेगी, उनके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रादेशिक और केन्द्रीय कानून व्यवस्था

सरकार लोगों की परोक्ष इच्छा है। लोगों की प्रत्यक्ष इच्छा से जो काम नहीं हो सकता, वह परोक्ष इच्छा से कैसे होगा! क्रान्ति कानून से नहीं होती। क्रान्ति हो जाने पर तदनुसार कानून बनते हैं। लोग समझते हैं कि कानून से जल्दी और बड़ा काम होता है, लेकिन यह गलत है। कानून का लक्षण ही आहिस्ता-आहिस्ता चलने का है। कानून तो हमेशा छोटे बना करते हैं, क्योंकि उनका अमल सब दूर कराना होता है।

—विनोबा

सर्वोदय व्यवस्था में जनता की प्रमुख आवश्यकताओं सम्बन्धी सब कार्य—कानून सम्बन्धी हों, या प्रशासन अथवा न्याय सम्बन्धी हों—स्थानीय पंचायतों द्वारा होंगे। इसलिए प्रादेशिक संस्थाओं का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित रहेगा, और केन्द्रीय संस्था का तो और भी कम। यहां उनके कानून सम्बन्धी कार्य का विचार करेंगे। पहले यह जान लें कि मनुष्य के सामाजिक जीवन में कानून का क्या स्थान और स्वरूप रहा है।

मानव विकास और कानून—नैतिक दृष्टि से मानव विकास की तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। आरम्भ में व्यवस्थित संगठन नहीं होता, पाशविक या शारीरिक बल की प्रमुखता मानी जाती है, ताकतवर की बात चलती है। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' होती है। इसे भारत के प्राचीन शास्त्रकारों ने 'मत्स्यन्याय' कहा है। जैसे बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, उसी तरह बलवान व्यक्ति निर्बल को सताता है। स्वार्थ और हिन्सा का बोलबाला रहता है। इसे अब पशुपन या जंगल का कानून कहा जाता है। विकास की दूसरी अवस्था में आदमी

राज्य बनाकर रहता है। पारस्परिक झगड़ों आदि का फैसला सरकार करती है, अदालती कानून चलता है। इसमें भी हिन्सा तो रहती ही है; हाँ, उसका स्वरूप बदल जाता है। आदमियों को सरकार का भय रहता है, जो आदमी कानून भंग करते हैं, उन्हें दंड मिलता है। पुलिस, जेल और न्यायालय तथा विविध कर्मचारी सरकार की हिन्सक शक्ति के प्रतीक हैं। मानव विकास की तीसरी अवस्था वह है, जिसमें वह अपना सब कर्तव्य अपनी इच्छा से, बिना किसी बाहरी (सरकारी आदि) दबाव के पूरा करे, वह सबके हित का ध्यान रखे और न तो किसी से दबे और न किसी को दबावे। इस प्रकार कानून की कोई जरूरत न रहे; यदि कोई कानून हो तो वह पारस्परिक प्रेम का, सत्य का, मानवता या इन्सानियत का हो। समय-समय पर कुछ विचारक इस दिशा का संकेत करते रहे हैं। बुद्ध, सुकरात और ईसा ने संसार में प्रेम का कानून चलाने का प्रयत्न किया। महापुरुषों की इसी परम्परा में गांधीजी आये और अब विनोबा आदि जनता का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

वर्तमान अवस्था; कानून की भरमार और जटिलता—बहुत मंद गति से, परन्तु निश्चित रूप से इस दिशा में प्रगति हो रही है। तथापि अभी हम अभीष्ट लक्ष्य से बहुत दूर हैं। किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था करने या कोई सुधार अमल में लाने के सम्बन्ध में यह अनुभव होते हुए भी कि हिन्सात्मक उपायों से कुछ विशेष या स्थायी सफलता नहीं मिलती, आदमी कानून का ही सहारा बहुत तका करते हैं। इसका परिणाम यह है कि प्रत्येक राज्य में जुदा-जुदा कानूनों के बड़े-बड़े विशाल ग्रन्थ तथा ग्रन्थमालाएँ मौजूद हैं और नित्य नयी तैयार होती जा रही हैं। कानून का उद्देश्य तो यही बताया जाता है कि आदमी उसे जानें, समझें और उसका पालन करें, परन्तु उसकी भाषा एक खास प्रकार की और ऐसी जटिल होती है कि कानून साधारण योग्यता वालों की समझ में नहीं आता।

कानून और लोकमत—कानून से लाभ इतना ही है कि उससे लोगों का पथ-प्रदर्शन होता है। वे जान लें कि कौनसा काम उन्हें करना चाहिए और कौनसा नहीं करना चाहिए। कानून को जानकर नागरिकों को उसके अनुसार व्यवहार करने की सुविधा होती है, इस प्रकार वह राज्य की कोप-दृष्टि से अर्थात् उसके द्वारा मिलने वाले दंड से बच सकता है। स्मरण रहे कि स्वेच्छा से काम करना और बात है, और कानून या दंड के भय से काम करना दूसरी बात है। फिर,

यह आवश्यक नहीं है कि कानून का सभी आदमी ठीक-ठीक पालन करें। हरेक राज्य में नित्य अनेक नियम भंग किये जाते हैं, और वे नियम जनता के व्यवहार में न आकर केवल कानून के ग्रंथों में ही रखे रहते हैं। बात यह है कि किसी विषय का कानून बनने से पहले उसके सम्बन्ध में यथेष्ट लोकमत तैयार होना बहुत जरूरी है। ऐसा न होने की दशा में कानून केवल सरकारी कागजों की शोभा बढ़ानेवाला रहेगा। उदाहरण के लिए भारत में बाल-विवाह प्रतिबन्धक कानून है, जिसे आम बोलचाल में शारदा-एक्ट कहते हैं। इस कानून के होते हुए भी छोटे बालक-बालिकाओं की शादियाँ आये दिन होती रहती हैं, आदमी कानून-भंग करने के लिए कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकमत की यथेष्ट भूमिका तैयार हुए बिना कानून से कुछ विशेष लाभ नहीं होता। जब किसी सुधार के लिए लोकमत बन जाता है, अधिकांश आदमी उसे अमल में लाने लगते हैं, तभी कानून उपयोगी होता है। कानून का काम केवल यही है कि लोकमत पर राज्य की मोहर लगादे, अकेले कानून से समाज-सुधार या परिवर्तन नहीं होता। वास्तविक समाज-सुधार के लिए लोगों के विचारों में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। विचार मन में बैठ जाने पर मनुष्य के आचरण और व्यवहार में प्रकट होते हैं। इस प्रकार मानसिक क्रान्ति बाह्य क्रान्ति को जन्म देती है। बुद्ध, ईसा, मोहम्मद, कार्लमार्क्स सब ने यह समझा और मानसिक क्रान्ति की। हमारे जमाने में गांधीजी ने यही किया। क्रान्ति के लिए जन-शक्ति को जागृत करने और मानव हृदय को बदलने की जरूरत होती है।

सर्वोदय और कानून—इससे साफ जाहिर है कि सर्वोदय जैसी हृदय-परिवर्तन मूलक क्रान्ति में कानून का उपयोग बहुत ही कम है। इसमें व्यक्तियों की विचारधारा बदलनी है, समाज का नवनिर्माण करना है। अतः सर्वोदय राजव्यवस्था में कानून का सहारा तकना उचित नहीं। उसमें कानून बहुत ही कम, नाममात्र को होंगे, उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया जाएगा। उसमें तो ऐसा वातावरण बनाना है कि आदमी स्वयं स्वभाव से, स्वेच्छा से, बिना कानून आदि के दबाव के अपना कर्तव्य कार्य करते रहें। कानून केवल भूले-भटकों को—जिनकी संख्या कुल जनता में बहुत ही कम होगी—दिशा का संकेत करनेवाला होगा।

पहले कहा जा चुका है कि सर्वोदय में जनता की स्थानीय संस्थाएँ स्वावलंबी होंगी, वे अपने क्षेत्र सम्बन्धी आवश्यक नियम आदि स्वयं बनायेंगी। इसलिए राज्य में कानून बनाने का काम बहुत सीमित ही रहेगा।

प्रादेशिक विधान सभाएँ—जिन विषयों का सम्बन्ध कई-कई स्थानीय क्षेत्रों से होगा, उनके विषय में स्थानीय संस्थाओं को परामर्श देने तथा उनका मार्ग-दर्शन करने का कार्य प्रादेशिक विधान सभा करेगी। इसके सदस्यों का चुनाव जिला-पंचायतों के सदस्यों द्वारा होगा, जिनके बारे में पहले लिखा जा चुका है। अस्तु, प्रादेशिक विधान सभाओं का चुनाव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रीति से होगा। इनका काम ग्राम और नगर-पंचायतों को आवश्यक परामर्श देना, उनके आपसी सम्पर्क बढ़ाने में योग देना तथा उनके लिए भूमि तथा विकेन्द्रित उद्योग-धंधों आदि के सम्बन्ध में नीति निर्धारित करना, जिससे समस्त प्रदेश में एकता, और सहयोग की भावना बढ़े। ये ऐसे ही विषयों के सम्बन्ध में कानून बनायेंगी, जिनका विचार प्रादेशिक स्तर पर होना आवश्यक है जैसे नहरें, बड़े-बड़े बांध, बिजली, प्रान्तीय सड़कें, अनुसन्धान आदि।

केन्द्रीय विधान सभा या संसद्—संसद में प्रादेशिक विधान सभाओं का प्रतिनिधित्व होगा, अर्थात् उसके सदस्यों का चुनाव राज्य की सब प्रादेशिक विधान सभाओं के सदस्य करेंगे। इस प्रकार यह चुनाव भी प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होगा। संसद का कार्य प्रादेशिक विधान सभाओं के कार्य में समन्वय स्थापित करना है। यह दो या अधिक प्रदेशों या पूरे राज्य सम्बन्धी कानून बनायेगी। यह ऐसे विषयों का भी विचार करेगी जिनका दूसरे राज्यों से सम्बन्ध हो। इस तरह इसके क्षेत्र में ऐसे विषयों के कानून आयेंगे जैसे केन्द्रित उत्पादन (जो कुछ खास-खास थोड़ी सी ही वस्तुओं का होगा), मुद्रा, टकसाल, यातायात के साधन अर्थात् रेल, जहाज, वायुयान, रक्षा, रेडियो, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विदेश नीति आदि।

कानून निर्माण; बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकों की बात—यदि कोई कानून सम्बन्धी मसविदा (प्रारूप) ऐसा है, कि दस आदमी तो उसके पक्ष में हों, और आठ-नौ उसके विपक्ष में तो उस मसविदे को कानून का रूप देना अनुचित है, क्योंकि आठ-नौ व्यक्तियों को उस कानून के अनुसार काम करना होगा। इसलिए जब तक एक भी व्यक्ति असन्तुष्ट हो, तब तक कोई कानून पास करना सच्चा लोकतंत्र नहीं।

पर आजकल राज्यों में जो कानून बनते हैं, वे बहुमत से ही बनते हैं। क्या बहुमत की बात सदा सही या सत्य होती है? यदि बहुमत की बात ठीक न हो तो उसे क्यों माना जाय? इसी प्रकार यदि अल्पमत की सम्मति उचित हो तो उसके अनुसार कानून क्यों न बने? जैसे गांधीजी ने कहा है, 'यह मानना नास्तिकपन और वहम है कि बहुसंख्यक की बात अल्पसंख्यक को माननी ही चाहिए। ऐसी मिसालें हजारों मिलेंगी, जिनमें बहुतों की कही हुई बात गलत और थोड़ों की कही हुई बात सही साबित हुई।' तो फिर अल्पमत या बहुमत की बात के सम्बन्ध में क्या नीति रहे? गांधीजी ने स्पष्ट कहा है—

'मेरा सदा यह मत रहा है कि जब कोई गण्यमान्य अल्पमत किसी व्यवहार नियम के प्रति आपत्ति करता है तो बहुमत को अल्पमत के सामने दब जाना सम्मानपूर्ण बात है। जब संख्या-जन्य शक्ति अल्पमत की दृढ़ता से ग्रहण की हुई राय की नितान्त उपेक्षा करती है तो उसमें हिंसा की विशेषता होती है। बहुमत का नियम तभी पूरी तरह से ठीक है, जब भिन्न मतवाले अपने मतभेद पर कठोरता से अनुरोध न करें और जब उनमें बहुमत की राय को उदारता पूर्वक मान लेने की भावना हो।' [यं० इं०; भा० ३, पृष्ठ २१२]

'बहुमत का यह अर्थ नहीं कि वह एक व्यक्ति की भी राय को, यदि वह ठीक है, दबा दे। एक व्यक्ति की राय को, यदि वह ठीक है, बहुतों की राय की अपेक्षा अधिक महत्व देना चाहिए। सच्चे जनतंत्र के सम्बन्ध में यह मेरा मत है।' [२८ ९ ४४ का वक्तव्य]

इस प्रकार सर्वोदय व्यवस्था में कोई कानून बनाने में केवल यही नहीं देखना है कि इस कानून के पक्ष में मत देनेवालों की संख्या अधिक है। विचार यह करना है कि कानून ठीक है या नहीं, और इसकी जांच का आधार यह है कि जो व्यक्ति इसका समर्थन करते हैं, उनका चरित्र, निष्पक्षता, त्याग और सेवा-भाव कैसा या कितना ऊंचा है। आजकल संख्या को जो महत्व दिया जा रहा है, वह ठीक नहीं। हाँ, यह जरूर है कि 'जहाँ कोई सिद्धान्त की बात नहीं है और किसी कार्यक्रम को चलाना है, वहां अल्पमत को बहुमत की बात माननी होगी।'[1]

---

[1]'हरिजन', ११-८-४०

विशेष वक्तव्य—ये बातें कुछ अजीब या अव्यावहारिक मालूम होने पर भी गम्भीरता-पूर्वक विचारणीय हैं। यदि हम यह समझ जायं कि मानव हित के लिए सही बात को ही ग्रहण करना है तो हम उसे अपनाने की स्थिति में भी हो जायंगे, और उसके मार्ग भी निकल आयंगे। अस्तु, सर्वोदय व्यवस्था में, कानून-निर्माण में नीति बहुमत के अनुसार चलने की न होकर सर्वजनहिताय–सर्वजनसुखाय होगी।

सोलहवाँ अध्याय

प्रादेशिक और केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था

सरकार निमित्त मात्र होती है। उसका काम यह नहीं है कि गांव को हर चीज बाहर से ला दे। सब गांवों का सम्बन्ध बना रखने के लिए सरकार है; उसका काम हरेक गांव को स्वावलम्बी बनाने में मदद करने का है।

—विनोबा

लोकहितकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जबकि सब कर्मचारी इसी उद्देश्य से प्रेरित हों और तदनुसार जनता के हितकारी सेवक बन जायं, निष्ठापूर्वक जनता की सेवा करें और उसमें केवल उसका सुख और संतोष बढ़ाने की दृष्टि रखें ताकि ज्यादा उत्पादन करने और देश की समृद्धि बढ़ाने की उन लोगों की शक्ति बढ़े।

—मोरारजी देसाई

प्रादेशिक प्रशासन कार्य—सर्वोदय व्यवस्था में प्रादेशिक सरकारों के करने का काम विशेष न रहेगा, यह पहले बताया जा चुका है। वे पंचायतों का मार्ग-दर्शन करेंगी, उनके कार्य में समन्वय की भावना लायेंगी और उनके सामने व्यापक हित का विचार रखती रहेंगी। कोई प्रादेशिक सरकार ऐसे ही कार्य हाथ में लेगी, जिन्हें उसके क्षेत्र की कई-कई पंचायतें मिलकर उसके द्वारा कराना चाहें। इस प्रकार वे ऐसी शिक्षा तथा ऐसे अनुसन्धान आदि की व्यवस्था करेंगी, जिससे गाँवों और नगरों के निवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा हो। ये भिन्न-भिन्न गाँवों और नगरों में यातायात के लिए सड़कें बनवाने का भी प्रबन्ध करेंगी। कुछ विशेष दशाओं में यदि सिंचाई के लिए नहरें, नल-

कूप और बड़े-बड़े बांध आदि बनवाना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसके सम्बन्ध में भी ये ही निश्चय करेंगी।

केन्द्रीय प्रशासन कार्य—अब केन्द्रीय सरकार के कार्य क्षेत्र का विचार करें। सर्वोदय व्यवस्था में यह केवल उन विषयों से सम्बन्ध रखेगी जो पूरे राज्य के स्तर पर करने आवश्यक होंगे। पहले कहा जा चुका है कि जनता की रोजमर्रा की आवश्यकताओं का सब सामान विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा ही तैयार किया जायगा। इस प्रकार केन्द्रित उत्पादन और नियंत्रण केवल सैनिक उद्योगों, बिजली आदि शक्ति की उत्पत्ति, खानों, जंगलों और भारी यंत्रों या बड़े कारखानों तक ही सीमित रहेगा। विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में माल ढोने के साधनों—खासकर रेल, और वायुयान जहाज—की उपयोगिता का बहुत सीमित रहना स्पष्ट ही है। विदेशी व्यापार का परिमाण भी बहुत कम रहने वाला ठहरा, इसलिए इन साधनों का महत्व बहुत सीमित रहेगा।

केन्द्रीय सरकार विविध प्रादेशिक सरकारों के काम में उनकी इच्छा और आवश्यकता के अनुसार सहयोग प्रदान करेगी और राज्य भर की सामूहिक उन्नति या प्रगति का ध्यान रखते हुए विदेशों से शान्ति और सद्भाव बढ़ाती रहेगी।

सरकारी सेवकों की योग्यता—सर्वोदय व्यवस्था में हमें ऐसे समाज का निर्माण करना है, जिसमें सब को—बिना किसी भेद-भाव के—विकास का यथेष्ट अवसर मिले, किसी का शोषण न हो, सबके साथ न्याय हो, किसी प्रकार का वर्ग-भेद आदि न हो तो यह आवश्यक ही है कि राज्य के सेवक या कर्मचारी यथेष्ट योग्य हों। सर्वोदय विचार से योग्यता का अर्थ कुछ परीक्षाओं का पास करना और जैसे-तैसे प्रसिद्धि प्राप्त करना ही न होगा। इस प्रकार किसी आदमी की, उत्तरदायी पद पर नियुक्ति सीधे या एकदम नहीं होगी। केन्द्रीय क्षेत्र में ऐसे ही व्यक्ति नियुक्त किये जायंगे, जिन्होंने प्रादेशिक क्षेत्र में लोकसेवा, त्याग और कार्यकुशलता का परिचय दिया हो। इसी प्रकार प्रादेशिक क्षेत्र में नियुक्त होनेवाले व्यक्ति स्थानीय क्षेत्र में इन गुणों का परिचय देने वाले सज्जन होंगे।

सेवकों का वेतन—सरकारी सेवकों को वेतन सार्वजनिक कोष से दिया जाएगा—ग्राम सेवकों को पंचायती कोष से, प्रादेशिक और केन्द्रीय कार्यकर्ताओं को उन-उन सरकारों द्वारा। वेतन अधिकांश में जिन्स के रूप में होगा; अर्थात्

कार्यकर्ताओं तथा उनके परिवार आदि के लिए आवश्यक भोजन-वस्त्र और मकान की व्यवस्था की जायगी। शिक्षा और चिकित्सा सार्वजनिक संस्थाओं में हो ही जाएगी। उन्हें अपनी निजी फुटकर आवश्यकताओं के लिए—जो बहुत कम ही होंगी—विशेष द्रव्य की जरूरत न होगी। उनका वेतनादि ऐसा ही रहेगा जैसा साधारण नागरिकों का होगा, और किसी आदमी को सरकारी पद के कारण बहुत अधिक आमदनी या सुख-सुविधाएँ न मिलेंगी।

गांधीजी ने लिखा था—'यदि साधारण जीवन में अ २५ रु० की मासिक आय से संतुष्ट है तो उसे अपने मंत्री बनने पर २५० रु० की आशा करने का कोई अधिकार नहीं है।'[१] पीछे एक प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने योग्य किसानों को मंत्रिमंडल में लेने और प्रधानमंत्री का भी पद देने का जिक्र करते हुए कहा था कि 'उसके बाद कोई मंत्री महलों में न रहेगा, किसी मन्त्री और सरकारी अधिकारियों को ऊँची तनख्वाहें न दी जायंगी, बड़े-बड़े खर्चीले तथा बरबादी भरे सरकारी महक्मे नहीं रहेंगे।'

सेवकों में समानता—इस समय सरकारी नौकरों के पदों और वेतनों में बहुत विषमता है, और उसके कारण उनकी प्रतिष्ठा में भी बहुत अन्तर होता है। एक ही विभाग में काम करने वाला एक नौकर हजार रुपये माहवार पाता है, और दूसरा सिर्फ चालीस पचास रुपये। उदाहरण के लिए स्टेशन मास्टर को जो वेतन आदि मिलता है, रेल का कांटा बदलने वाले (पोयंट्समेन) को उसकी अपेक्षा बहुत ही कम मिलता है। कहा जाता है कि स्टेशन मास्टर का काम बहुत महत्व का है। परन्तु विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि कांटा बदलने वाले का काम कुछ कम जिम्मेवारी का नहीं है, उसकी थोड़ी सी गलती से सैकड़ों या हजारों आदमी की जान जोखम में पड़ सकती है। फिर, इन दोनों के पदों में इतना ऊँच नीच का भेद क्यों?

दूसरी बात लें। भारत के केन्द्रीय सरकार के आफिसों में काम करने वाले चपरासी को जितना वेतन आदि मिलता है, उसकी अपेक्षा राज्य-सरकारों के दफ्तरों के चपरासियों को कम दिया जाता है। और, स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं

---

[१]'हरिजन', ३ ९ ३८

के चपरासियों को और भी कम। क्या तीनों प्रकार के चपरासियों को एक ही तरह का और लगभग समान परिमाण में ही काम नहीं करना पड़ता? और क्या उनकी शारीरिक आवश्यकताओं में कोई मौलिक अन्तर है? फिर उनके वेतनादि में विषमता क्यों?

आवश्यकता है सरकारी सेवकों के वेतन, पद और प्रतिष्ठा में यह अन्तर या विषमता न रहे। सेवा-मात्र सेवा है; फिर एक सेवा और दूसरी सेवा में भेद-भाव रखने की क्या आवश्यकता है! हाँ, यदि एक सेवक की प्रमुख आवश्यकताएँ-में दूसरे की अपेक्षा कुछ कम ज्यादा है, अथवा उनके निवास-स्थानों में उपयोग के पदार्थ कुछ मंहगे सस्ते हैं तो इस सीमा तक उन सेवकों को दिये जाने वाले पारिश्रमिक में कुछ अन्तर हो सकता है। इस बात को छोड़कर उनमें समानता ही रहनी चाहिए।

महत्त्व पद का नहीं, सेवा का होना चाहिए—आजकल प्रायः सरकारी सेवकों का वेतन और प्रतिष्ठा उनके पद के अनुसार होती है, उनकी सेवा की दृष्टि से नहीं। होना यह चाहिए कि पद को महत्व न दिया जाय, सेवा की दृष्टि मुख्य हो। पदों के नाम तो सिर्फ उस कार्य के सूचक होते हैं, जो उस पद पर रहकर किसी सेवक को करना होता है। कल्पना करो कि एक आदमी आज किसी पद पर कार्य कर रहा है, कल उसे उससे ऊंचे पद पर कार्य करने का अवसर आजाय तो सिर्फ इसीलिए उसका वेतन या प्रतिष्ठा नहीं बढ़ जानी चाहिए। सम्भव है, उस ऊंचे पद पर जो काम करना हो उसमें शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम कम ही करना हो—अधिकांश ऊंचे पद वालों का काम कम ही परिश्रम का होता है। काम का विशेष भार नीचे के पदों वालों पर पड़ता है। अस्तु, महत्व पद का न रह कर सेवा-कार्य का होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, उच्च कहे जानेवाले विविध पदाधिकारियों का कार्यकाल निश्चित रहना चाहिए, जिससे निर्धारित अवधि के बाद नये-नये आदमियों को वे पद ग्रहण करने तथा उनके योग्य बनने का अवसर आता रहे। साथ ही किसी व्यक्ति ने जो पद ग्रहण कर रखा है, उसे उससे नीचे के पद पर काम करने में कोई संकोच या आपत्ति न होनी चाहिए। भारतवर्ष में चरखा संघ आदि के मुख्य पदों की नियुक्तियों में इन बातों का विचार रखा जाता है।

सेवकों से व्यवहार—आजकल सरकारी सेवकों का भी आपस में एक दूसरे से ऐसा व्यवहार नहीं है, जैसा होना चाहिए। ऊंचे पदों वाले तो अधिकारी या अफसर कहे जाते हैं, और इनके नीचे काम करने वाले हैं कर्मचारी। अधिकारी लोग निम्न कर्मचारियों का यथेष्ट आदर-मान नहीं करते, उन्हें तिरस्कार भाव से देखते हैं, और उनसे सरकारी कार्य कराने के अतिरिक्त अपने घर या निजी काम भी कराते हैं, मानो इन बेचारों का अपना कुछ व्यक्तित्व ही नहीं। सेवा-भावी व्यक्ति अपनी इच्छा से दूसरे सरकारी सेवक का कुछ कार्य करें तो कोई हर्ज नहीं, पर किसी से इसलिए अपना काम कराने की भावना, कि वह हमारे अधीन है, अनुचित है।

इसी प्रकार जनता को भी चाहिए कि सरकारी सेवकों का यथेष्ट आदर-मान करे, और उनकी आवश्यकतानुसार सहायता करे। उन्होंने सरकार की सेवा करना स्वीकार किया है, और अच्छी सेवा करते हैं, यह बात उनका गौरव बढ़ाने वाली मानी जानी चाहिए। किसी को यह विचार न करना चाहिए कि सरकारी सेवक होने के कारण 'नौकर' है, जबकि हम जनता के आदमी होने के नाते 'मालिक' हैं।

सेवकों का जनता से सम्पर्क—पहले कहा गया है कि सरकारी पदों पर नियुक्ति के लिए वे लोग ही प्राथमिकता पायंगे, जिन्होंने जनता की अधिक से अधिक सेवा का परिचय दिया है। इस प्रकार सरकारी कर्मचारी जनता के आदमी होंगे, सरकारी पद पर आरूढ़ होकर भी उन्हें जनता से सम्पर्क बनाये रखना चाहिए। उनका रहन-सहन, बर्ताव-व्यवहार ऐसा न हो कि उनमें और सर्वसाधारण में कृत्रिम भेद-भाव पैदा करदे। उनमें गरीबों, किसानों और मजदूरों के घर जाने और उनके साथ बैठने-उठने तथा उनके विचार और आवश्यकताएँ जानने में किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि वे सरकारी पद प्राप्त करने से पूर्व जनता में घुले मिले थे, और इस पद से अवकाश पाने पर भी उन्हें फिर जनता का ही होकर रहना है; फिर, इस बीच के समय में वे जनता से दूर-दूर क्यों रहें! वर्तमान अवस्था में उच्च श्रेणी के ही नहीं, मध्य श्रेणी के सरकारी कर्मचारी भी कुछ दूर पैदल या इक्के-तांगे में चलना, किसी प्रकार का उत्पादक शरीर-श्रम करना, अपने घर-गृहस्थी के साधारण काम करना, बाजार से अन्न आदि सामान खरीद

लाना, किसानों मजदूरों या दूसरे गाँव वालों से शिष्टाचार का व्यवहार करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। उनका यह अहंकार, उच्चता या श्रेष्ठता की यह झूठी भावना, मानवी गुणों का ह्रास करती है। सर्वोदय व्यवस्था में सरकारी कर्म-चारी लोकसेवा के भावों से ओतप्रोत होंगे, वे अपने व्यवहार में उदारता, सहृदयता त्याग और प्रेमका अधिकाधिक परिचय देंगे। वे जनता से यथेष्ट संपर्क रखेंगे और इसके प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप वे शरीर-श्रम को आदर देने वाले ही नहीं, स्वयं शरीर-श्रम करने वाले होंगे। इस प्रकार वे सरकारी नौकरी को अपने विकास का साधन बनायेंगे।

गांधीजी का मार्ग-दर्शन—गांधीजी ने विविध सरकारी पदाधिकारियों के रहनसहन, योग्यता और व्यवहार आदि के सम्बन्ध में समय-समय पर काफी लिखा है, और कहा है। उनके इस विषय के कुछ विचारों का संकलन हमने 'सर्वोदय राज, क्यों और कैसे ?' पुस्तक में किया है। उसमें बताया गया है कि भारत के राष्ट्रपति, गवर्नर और मंत्रियों आदि से वे क्या आशा करते थे। उनकी सब बातों को आज की परिस्थिति में अक्षरशः लेने की आवश्यकता नहीं, देश-काल के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन या संशोधन हो सकता है, तथापि भारत के ही नहीं, सभी देशों के नागरिकों को उनकी मूल भावना समझना और उसे यथासम्भव अमल में लाना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय राजव्यवस्था में जनता का—जनता के नीचे-से-नीचे दिखायी देने या समझे जाने वाले व्यक्तियों का—हित हमेशा सामने रहेगा। राज्य का लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा, स्वतंत्रता और एकता होगी। कर्मचारियों में हुकूमत की भावना न होकर लोकसेवा की कामना होगी। कोई मानवता-विरोधी बात होने का अवसर ही न आयेगा; सब लोगों में सहानुभूति और सहयोग के लिए प्रबल प्रेरणा रहेगी। ऐसी शासन-व्यवस्था में लोगों के व्यक्तित्व का दमन या हत्या न होगी, वरन् उनकी उन्नति और विकास का समुचित अवसर मिलेगा।

सत्रहवाँ अध्याय

प्रादेशिक और केन्द्रीय न्याय व्यवस्था

गुनाह बन्द करने के दो तरीके हैं—(१) गुनाहों का कारण दूर करना—यह भूदान आन्दोलन से होगा, और (२) हरिकथा। हरिकथा से अवतार की कथा का हमारा मतलब नहीं है। सच्चा धर्म लोगों को समझाना चाहिए।

—विनोबा

अपराध-निवारण का प्रथम और सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय बुद्धिमत्ता-पूर्वक किया हुआ शासन है, जिससे सर्व साधारण की सुख-समृद्धि हो।

—अज्ञात

वर्तमान न्याय पद्धति दूषित है—वर्तमान न्याय पद्धति के दोषों को विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं। सब जानते हैं कि जनतंत्री शासन में न्याय बिकता है। कुछ राज्यों को इस विभाग से खासी आमदनी होती है। अनेक आदमी न्याय को खरीदने में समर्थ न होने के कारण उससे वंचित रहते हैं। अदालती खर्च के अतिरिक्त मुकदमें में और भी भयंकर व्यय होता है, और अनेक दशाओं में यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'अदालत में जो जीता वह हारा, और जो हारा सो मरा।' फिर कितने ही मामलों का फैसला होने में कल्पनातीत समय लगता है, यहां तक कि मूल वादी प्रतिवादी की उम्र पूरी हो जाती है, उन्हें न्यायालय का निर्णय सुनने का 'सौभाग्य' ही प्राप्त नहीं होता।

अपराध-निवारण में दंड की असफलता—आजकल अपराधों की रोक-थाम के लिए तरह-तरह के कानून बनाये जाते हैं, और भांति-भांति के दंड निर्धारित किये जाते हैं—जैसे बेंत या कोडे लगाना, जुरमाना, कैद (सादी या सख्त), देश-बहिष्कार और फांसी आदि। दंडशास्त्र का बड़ा विशाल रूप बन गया है और उसके

नियम-उपनियमों को अमल में लाने के लिए अनेक संस्थाएँ और कर्मचारी रहते हैं तो भी कोई राज्य अपने आपको अपराधियों से मुक्त करने का गौरव नहीं पा रहा है। अनेक दशाओं में नये-नये अपराध सामने आते हैं जो व्यक्ति एक अपराध में दंड पाता है, वह दूसरा अपराध करने में अधिक तत्पर हो जाता है। वास्तव में दंड को अपराध निवारण का उपाय मानना ही गलत है।[1]

अपराधों का कारण दूर किया जाना चाहिए—यदि समाज से अपराधों को दूर करना है तो गम्भीरता-पूर्वक यह विचार करना होगा कि आदमी अपराध क्यों करता है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः अपराधों का मूल कारण सामाजिक आर्थिक परिस्थिति तथा कुछ दशाओं में तो राजनीतिक परिस्थितियाँ भी होती हैं। यदि मनुष्य की जीवन-निर्वाह सम्बन्धी तथा अन्य शारीरिक-मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति शान्त और अहिन्सक मार्ग से नहीं होती तो साधारणतया वह अन्य उपायों को काम में लायेगा। वह उचित-अनुचित या नैतिक-अनैतिक का विचार नहीं करेगा। हाँ, यदि उसके संस्कार उसकी शिक्षा-दीक्षा ऊंचे दर्जे की रही है तो वह यथा-सम्भव उस कष्ट को सहन करने का प्रयत्न करेगा, जो उसे उसकी आवश्यकताएँ पूरी न होने की दशा में मिलता है। अस्तु, समाज की व्यवस्था ऐसी होनी जरूरी है कि उसके प्रत्येक व्यक्ति को काम या रोजगार मिले, जिससे उसकी शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही होती रहे। इसके अलावा समाज में लोगों के सामने यह दृष्टि रखी जानी चाहिए कि भौतिक आवश्यकताओं को निरंतर बढ़ाते रहना ठीक नहीं है, उन पर नियंत्रण रखा जाना चाहिए; संयम सादगी और सेवा की भावना का विकास करना चाहिए।

सामाजिक आदर्श का प्रभाव—सामाजिक आदर्शों का भी मनुष्य के आचरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए यदि समाज में धन को बहुत प्रतिष्ठा दी जाती है तो आदमी की यह इच्छा होना स्वाभाविक है कि जैसे भी बने वह अधिक से अधिक धनवान हो। आदमी ऐसे पेशों और व्यवसायों की ओर झुकते हैं जिनमें आय बहुत अधिक होती है, अथवा वे जो भी काम करते हैं उसमें

---

[1]इस विषय पर विस्तार से हमारी 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक में लिखा गया है।

अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए सीधे-तिरछे, भले-बुरे उपाय निकाल लेते हैं। यही कारण है कि बहुत से आदमी पढ़-लिखकर सेवा-भावी नहीं होते, वरन् प्रोफेसर, वकील, डाक्टर, जज, मंत्री आदि बनने के इच्छुक रहते हैं अथवा ऐसे सरकारी पदों के लिए लालायित रहते हैं, जिनमें रिश्वत आदि ऊपर की आमदनी की बहुत आशा हो। व्यापारी अपने व्यापार को ही अधिक-से-अधिक आय का साधन बनाना चाहता है; इसलिए वह अपने पदार्थों में मिलावट करने, कम तोलने या नापने, खूब मुनाफाखोरी करने आदि में कोई बुराई नहीं मानता।

प्रायः समाज में प्रोफेसर, वकील, जज, मंत्री आदि का पद प्रतिष्ठित माना जाता है। और चोरी और लूट को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। विचार करने पर स्पष्ट मालूम हो जायगा कि ऐसा दृष्टिकोण अनुचित है। चोर को हम बुरा क्यों कहते हैं? इसलिए कि वह थोडी सी मेहनत करके ही सेकड़ों हजारों रुपये का सामान ले जाना चाहता है। वह जितना धन लेता है, उसके अनुपात में काम बहुत कम करता है। परन्तु यही बात तो बड़े-बड़े वकीलों डाक्टरों और जजों आदि की है। ये थोड़ी देर के काम के लिए भारी भरकम फीस या वेतन आदि ले लेते हैं। इस दृष्टि से इनका व्यवहार चोर जैसा ही है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार इन्हें चोर नहीं कहा जाता पर सामाजिक न्याय के विचार से, और सर्वोदय दृष्टि से ये चोर ही हैं। श्री विनोबा ने कहा है, 'चोरी तो 'दिन वाली' मिटनी चाहिए। यह बड़ी सूक्ष्म होती है, बड़ी सफाई के साथ होती है। सूर्य नारायण के प्रकाश के सामने होती है और ये जो चोर होते हैं, वे साहूकार माने जाते हैं तथा जो गुनहगार होते हैं, वे न्यायमूर्ति-जज, वकील और कोतवाल आदि कहे जाते हैं।'

सर्वोदय व्यवस्था में अपराधों की विशेष संभावना नहीं—पहले कहा जा चुका है कि सर्वोदय व्यवस्था में बुनियादी तालीम से हरेक आदमी अपनी आजीविका स्वयं प्राप्त करने योग्य होगा तथा उसकी नैतिक भावना इतनी ऊँची होगी कि वह दूसरों का शोषण करने या मुफ्त में खाने-पीने आदि को बुरा समझेगा। समाज में आर्थिक विषमता न होगी। किसी को सोने-चाँदी के जेवर या सिक्के आदि संग्रह करने की न रुचि होगी और न जरूरत ही। घरों में खासकर अन्न-वस्त्र आदि चीजें ही रहेंगी, और इनके लिए किसी को चोरी करने का आकर्षण या आवश्यकता न रहेगी। ऐसी दशा में चोरी के अपराधों के विशेष होने की सम्भावना नहीं है। इसी

प्रकार जब आदमी अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रतों का पालन करता हुआ संयमी जीवन बितायेगा, दूसरों के हित को अपना हित समझेगा और इससे भी बढ़कर दूसरों का हित साधन करने के लिए भरसक त्याग और बलिदान करने को तैयार रहेगा तो उसके द्वारा किसी प्रकार का अपराध होने का अवसर बहुत कम ही आयेगा; मामले-मुकदमें बहुत कम होंगे।

सर्वोदय में न्याय-कार्य—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सर्वोदय व्यवस्था में अधिकांश न्याय-कार्य स्थानीय पंचायतों द्वारा ही होता रहेगा। जब तक किसी नैतिक विषय की अवहेलना या कानून का दुरुपयोग न हो, उनका फैसला अन्तिम माना जायगा। कुछ विशेष इने-गिने मामलों की ही अपील हो सकेगी, उसके लिए तथा प्रादेशिक मामलों के लिए राज्य के न्यायालय होंगे। वकील अपनी आजीविका के लिए फीस या मेहनताने पर निर्भर न रहकर शरीर-श्रम से अपना निर्वाह करेंगे, और जनता को न्याय दिलाने का काम निःशुल्क सेवा-भाव से करेंगे, अथवा कुछ खास और थोड़ी सी दशाओं में उन्हें राज्य से कुछ पारिश्रमिक मिल जायगा। इस प्रकार न्याय-कार्य विकेन्द्रित होने के साथ निष्पक्ष, सरल, सस्ता और जल्दी होने वाला होगा।

अपराधियों का सुधार—सर्वोदय व्यवस्था में न्याय-संस्थाओं का लक्ष्य दंड देना न होकर, अपराधियों का सुधार करना होगा। गांव-गांव और नगर-नगर में एक जागरूक सेवक वर्ग होगा। इस सेवक वर्ग के कार्यकर्ता अपराधियों पर निगाह रखेंगे पर उन्हें दंड दिलाने या उनसे बदला लेने के लिए नहीं, बल्कि उन्हें अच्छा नागरिक बनाने में मदद देने के लिए। उनके पास हथियार रहेंगे, पर केवल हत्या करने पर तुले हुए पागलों से तथा जंगली या हिंसक जानवरों से जनता की रक्षा करने के लिए। अपराधियों के सुधार के लिए जेल और हवालात आदि न होकर सुधार-गृह होंगे, जिनमें सहृदय मनोवैज्ञानिक अपने-अपने क्षेत्र के अन्य सज्जनों के सहयोग से लोकसेवा का कार्य करेंगे। सुधार-गृह स्वावलम्बी होंगे और वे कार-खानों के रूप में होंगे। उनके सम्बन्ध में गांधीजी ने अब से ३३ वर्ष पहले, सन् १९२२ में यह योजना बनायी थी—'वे धंधे जिनसे आय नहीं होती, बंद कर दिये जाएँ। सभी जेलें कताई-बुनाई की संस्थाएँ बन जायं। उनमें (जहाँ सम्भव हो) कपास पैदा करने से लेकर अच्छे से अच्छा कपड़ा बनाने तक का सब काम हो।

कैदियों के साथ घृणा के योग्य अपराधियों की तरह नहीं, दोषमुक्त व्यक्तियों की तरह बर्ताव हो। वार्डर, कैदियों के लिए, आतंक का कारण न हों; बल्कि उनके मित्र और शिक्षक हों। एक अनिवार्य शर्त यह है कि राज्य जेल में उत्पन्न सब खादी लागत मूल्य पर खरीद ले। यदि इससे अधिक खादी हो तो जनता उसे थोड़े से अधिक मूल्य पर खरीद सके, जिसमें एक बिक्री-गोदाम का खर्च निकल आये।'

विशेष वक्तव्य—अपराधियों के सुधार के साथ एक बात और होगी। वर्तमान दशा में अनेक बार लोगों की विचार धाराएँ तथा आर्थिक परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी समाज में सामूहिक रूप से काफी समय तक पुरानी मान्यताएँ चलती रहती हैं। इससे प्रगतिशील व्यक्तियों का समाज में मेल नहीं बैठता। सर्वोदय व्यवस्था में समाज अपने रीति रस्म, व्यवहार को समय-समय पर विवेक, लोकहित और मनोविज्ञान की कसौटी पर कसता रहेगा और उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन और संशोधन करता रहेगा। हमारा दृष्टिकोण संकीर्ण, साम्प्रदायिक, जातिगत, वर्गगत या प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय भी न होकर मानवता के भावों के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय रहेगा। इसलिए स्वार्थत्यागी, लोकसेवी महात्मा और महापुरुषों को कभी 'अपराधी' बनने का अवसर न आएगा। भूतकाल में सुकरात को जहर पिला कर मृत्युदंड देने, और ईसा को फांसी देने, और हमारे जमाने में, भारत में तिलक गांधी, विनोबा, मश्रूवाला, नेहरू और एंड्रूज आदि अनेक सज्जनों को बारबार कैद की सजा भुगतने से समाज की जिस अस्वाभाविक स्थिति का बोध होता है, वह न रहेगी। जब प्रत्येक व्यक्ति सब के लिए और सब प्रत्येक के लिए होंगे तो अपराध के निर्मूल करने के, और न्याय-कार्य की आवश्यकता हटा देने के आदर्श के हम अधिक से अधिक निकट होंगे।

———————

अठारहवाँ अध्याय

देश-रक्षा

अहिन्सा धर्म को समझकर उसका ठीक-ठीक पालन करनेवाली जनता को देश-रक्षा के साधन-स्वरुप तोप बन्दूक, जंगी बेड़े आदि की जरूरत ही न होगी। पर आज तो यह स्थिति कल्पना में ही विद्यमान मानी जा सकती है।

—'गांधी-विचार-दोहन'

हमें राज्यों से अधिक आशा नहीं करनी चाहिए। वे एक कुचक्र में फंस गये हैं, एक-दूसरे से लड़ते भी हैं और डरते भी हैं। हमारा काम तो आम जनता में है। हमें किसानों, मजदूरों, वैज्ञानिकों, विद्यार्थियों और शिक्षकों के पास पहुंच जाना चाहिए। आखिर मजदूर ही तो हथियार बनाते हैं, वैज्ञानिक उसमें मदद देते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी उनका समर्थन करते हैं, और भोली जनता, इसी में हमारा भला है—ऐसा मान बैठती है।

—विनोबा

सर्वोदय व्यवस्था में गाँवों के आत्म-रक्षा कार्य में भी स्वावलम्बी होने की बात पहले कही जा चुकी है। इस कार्य के लिए आदमियों को सत्याग्रह करने और अपने प्राण न्यौछावर करने की शिक्षा मिली हुई होगी। ये सत्याग्रही या अहिंसक सैनिक, अपने त्याग और सेवा-भाव से ऐसा वातावरण बनायेंगे कि एक गाँव या नगर का दूसरे गाँव या नगर से, एक प्रदेश का दूसरे देश से, और एक देश का पड़ोसी देशों से प्रेम और सहयोग हो। तथापि राज्य-रक्षा के विषय में कुछ खुलासा विचार करना आवश्यक है।

रक्षा-कार्य में हिंसा की असफलता—आजकल राज्य के कार्यों में रक्षा-कार्य का बोलबाला है। लोगों के भोजन-वस्त्र में कमी करके भी सैनिक खर्च

बढ़ाया जाता है। प्रत्येक देश को दूसरों का भय सता रहा है, और इस चिन्ता से वह अपने यहाँ अधिक-से-अधिक युद्ध-सामग्री तथा सैनिक व्यवस्था करने में लगा रहता है। दूसरे महायुद्ध ने दिखा दिया कि वैज्ञानिक और आर्थिक शक्तिवाले देश युद्ध-कार्य में कहाँ तक बढ़ गये हैं। यूरोप के छोटे-छोटे देशों ने युद्ध के अधिक से अधिक विकसित साधनों से काम लिया, एक-एक दिन में करोड़ों रुपये खर्च कर डाले और हिंसा कांड में कोई कमी न की। फिर भी वे अपनी रक्षा न कर पाये। यह देश-रक्षा में हिन्सा की असफलता का स्पष्ट प्रमाण है।

अणु-युग में सेनाओं की व्यर्थता—सेना और सैनिक संधियों में विश्वास करने वाले और इन्हें प्रोत्साहन देने वाले व्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार करें—

स्वयं पश्चिम के अनेक नेताओं के कथनानुसार पश्चिमी देशों की रक्षा नयी-नयी सैनिक संधियां और शस्त्रसन्नद्ध सेनायें नहीं कर सकेंगी। फ्रांस के एक भूतपूर्व गृहमन्त्री जुले मौच ने हिसाब लगाया है कि लगभग एक दर्जन हाइड्रोजन बमों से समस्त फ्रांस का नाश हो सकेगा और इसलिए उन्हें जर्मनी को पुन: शस्त्रसन्नद्ध करके फ्रांस की रक्षा कर सकने में विश्वास नहीं है।

कुछ मास पूर्व ब्रिटेन के सर विंस्टन चर्चिल ने भी ब्रिटिश पार्लिमेंट में भाषण करते हुये मिस्र के स्वेज-क्षेत्र से अपनी सैनिक छावनियां हटा लेने के पक्ष में प्रधान तर्क यही उपस्थित किया था कि भावी युद्धों का रूप आणविक होने के कारण वहां तैनात ब्रिटिश छावनियां मध्यपूर्व की रक्षा नहीं कर सकेंगी।

अमरीका के प्रेजीडेण्ट आइजनहावर अपने देश की सेनाओं को एकदम पचास प्रतिशत कम इसी आधार पर किये दे रहे हैं कि भावी युद्ध में अबतक के 'पुराने' शस्त्रास्त्र काम नहीं देंगे और वह अपने देश की सैनिक संख्या को कम रखकर उसके सैनिकों को आणविक अस्त्रों के प्रयोग में शिक्षित करना चाहते हैं।

आणविक शस्त्रास्त्रों की इन संभावनाओं से और सैनिक नेताओं की एतत्-सम्बन्धी पारस्परिक चर्चाओं से यह कल्पना सुगमता से की जा सकती है कि किसी भी भावी युद्ध में बहुसंख्यक सेनाएं प्राय: कुछ भी काम नहीं दे सकेंगी।[१]

---

[१] **'नवभारत टाइम्स', ६ जनवरी १९५५.**

आत्म-बलिदान करने वाले स्वयंसेवक—गांधीजी का यह विचार था—अगर हम जनता को इस तरह शिक्षा देने का प्रबन्ध कर और उसमें सफल हो सकें कि देश के बहुतेरे काम काज वह कानून और अधिकारियों की राह देखे बिना स्वेच्छा से सावधान रहकर कर लेती हो, तो उस स्थिति में ऐसे स्वयंसेवकों के मंडल होंगे, जिनके जीवन का मुख्य कार्य ही होगा जनता की सेवा करना और उसके लिए अपना बलिदान कर देना। वे ऐसे दल न होंगे जो केवल लडाई लड़ना ही जानते हों, बल्कि प्रजा को तालीम देनेवाले और उसकी व्यवस्था व्यवहार और सुख सुविधा की सम्हाल रखने वाले दल होंगे। देश पर कोई विपद आने पर पहला वार वे अपने ऊपर लेंगे।"[1]

अहिंसक राज्य को किसी से भय नहीं—यदि हम उन कारणों का विचार करें, जिनसे कि वर्तमान अवस्था में किसी राज्य पर आक्रमण हुआ करते हैं तो स्पष्ट हो जायगा कि अहिन्सक राज्य को इस सम्बन्ध में डरने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि उसकी बात ही दूसरी होती है। जैसा विनोबा जी ने बताया है, अगर बाहरी राष्ट्र आक्रमण करना चाहेंगे तो क्यों?

(अ) क्या इसलिए कि उनके पास जमीन कम और जनसंख्या अधिक है, और हमारे पास जमीन भरपूर और लोकसंख्या अल्प है?

अगर ऐसा हो तो उनमें से जो लोग हमारे देश में रहना चाहते होंगे और यहां की व्यवस्था में शरीक होना चाहते होंगे, उनका हम स्वागत ही क्यों न करेंगे? अहिन्सक राष्ट्र अपने आपको पृथक् नहीं मानता। प्राचीन हिंदुस्तान की वृत्ति शास्त्रीय और परिनिष्ठित अहिन्सा की न कही जा सके तो भी क्या हिन्दुस्तान में संकटग्रस्त पारसियों को जगह नहीं? और उससे हिंदुस्तान का क्या नुकसान हुआ?

(आ) अथवा, क्या दूसरे राष्ट्र दुर्भिक्षादि किसी आपत्ति के कारण चढ़ाई करेंगे?

अहिन्सक राष्ट्र स्वयं थोड़ी-बहुत मुसीबत उठाकर भी ऐसों की मदद किये बिना कैसे रहेगा?

---

[1] 'गांधी-विचार-दोहन'—लेखक—श्री किशोरलाल मश्रूवाला

(इ) अथवा, लोभवृत्ति के अधीन होकर व्यापार की मंडी पर कब्जा करने के लिए हम पर कोई आक्रमण करेगा ?

लोभ की ताली एक हाथ से कभी नहीं बजती। हम अगर आलसी या विलासी होंगे तो पड़ोसी के लोभ के लिए हम मौका देंगे। लेकिन वैसी हालत में हम अहिन्सक ही नहीं होंगे।

(ई) अथवा, क्या हम पर आक्रमण का आयोजन सरहद पर रहने वाले सम्मिश्र समाज के अन्तर्गत विदेशियों के हित-सम्बन्धों के झमेले के कारण होगा ?

उस हालत में इस समस्या का ऐसा समाधान साधना जो दोनों पक्षों को मान्य हो, दुर्बल अहिन्सा वाले राष्ट्र के लिए असम्भव भले ही हो, पर वीर्यवती अहिन्सा-वाले राष्ट्र के लिए सम्भव क्यों न होगा !

और मान लीजिए कि आखिर लड़ाई तक ही नौबत आगयी तो हिन्सा ने आज तक राष्ट्रों को जितना संरक्षण दिया, उससे कम संरक्षण उस राष्ट्र को अहिन्सा से क्यों मिलेगा, जिसमें आमरण कष्ट झेलने वाले वीर सन्नद्ध हों ?[१]

सर्वोदय अर्थव्यवस्था रक्षा में सहायक होगी—स्मरण रहे कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था स्वयं ही रक्षा कार्य में बड़ी सहायक होती है। आजकल औद्योगिक देशों में एक दूसरे से संघर्ष रहने का एक मुख्य कारण यह होता है कि प्रत्येक, अपना तैयार माल दूसरे देशों में खपाना चाहता है। बाजार हथियाने में बड़ी-बड़ी शक्तियों में होड़ लगी रहती है। सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में हम अपना तैयार माल किसी दूसरे देश पर लादना नहीं चाहते, इससे हमारा किसी से झगड़ा नहीं रहता। साथ ही स्वावलम्बी होने के कारण हम दूसरे राज्यों को यह मौका भी नहीं देते कि वे हमारे यहाँ बाजार पाने के लिए आपस में लड़ें-झगड़ें। इस प्रकार हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति की नीति स्थापित करने में सहायक होते हैं। जब हम न दूसरों का शोषण करते हैं, और न अपना शोषण होने देते हैं, तो हमारे ऊपर किसी की गिद्ध-दृष्टि क्यों होगी !

यह तो स्पष्ट ही है कि वर्तमान अणु बम और हाइड्रोजन बम के युग में बड़े-बड़े शहरों की बस्तियों और केन्द्रित उद्योगों के कल-कारखानों वाले देश को जल्दी

---

[१]'स्वराज्य शास्त्र'

ही तहस-नहस किया जा सकता है। परन्तु यदि जनता गांवों में बिखरी हुई हो और उद्योग-धंधे विकेन्द्रित हों—जैसा कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था में होता है—तो उन्हें सहज ही नष्ट नहीं किया जा सकता।

शान्ति-सैनिक; उनकी योग्यता और शिक्षण—फिर भी संयोग से यदि कोई मनचली शक्ति हम पर आक्रमण कर ही बैठे तो हमारे शान्ति-सैनिक युद्ध की ज्वाला को शान्त करने के लिए कोई कसर न रखेंगे। इनकी शक्ति इनकी संख्या के शरीरबल या अस्त्रों आदि पर निर्भर न रह कर इनमें से प्रत्येक के आत्मिक बल के अनुसार होगी। ऐसी सेनाओं की तैयारी एकदम नहीं हो सकती, इन्हें काफी समय ट्रेनिंग या प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, और यह कार्य धैर्य-पूर्वक किया जाना चाहिए।

गांधीजी ने इस प्रसंग में इस आशय के विचार प्रगट किये थे[1] कि शान्ति सैनिक में मुख्य गुण यह होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के लिए प्राण न्योछावर कर सके। यह सेना बुड्ढों, औरतों, बच्चों, अंधों, लंगडों और रोगियों का भी स्वागत कर सकती है। इससे स्पष्ट है कि इस सेना में अधिक जनता भाग ले सकती है। इस सेना को अस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। इसके सैनिकों को यह सीखना होता है कि रोगियों की सेवा किस तरह की जाय, अपनी जान जोखम में डाल कर भी दूसरों की रक्षा कैसे की जाय। शान्ति-सैनिक किसी को भी शत्रु नहीं मानता, जो आदमी उसे शत्रु समझें, उनके लिए भी उसके हृदय में प्रेम और दया होती है। वह उनके सुधार या उत्थान का इच्छुक रहता है। शान्ति-सैनिकों में बूढे और रोगी आदि सम्मिलित होने की बात ऊपर कही गयी है, फिर भी उन्हें जहां तक हो सके अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सुधारना और ठीक रखना चाहिए। अनेक बार ऐसा प्रसंग आ सकता है कि उन्हें भूख-प्यास, सर्दी गर्मी, वर्षा, मारपीट या दूसरी तकलीफें सहनी पड़ें। उनमें यह साहस और चतुराई भी होनी चाहिए कि लोगों को आग या बाढ़ आदि से बचा सकें और लड़ाई-दंगे के बीच में पड़कर लड़नेवालों से शान्त रहने के लिए अनुरोध कर सकें।

---

[1] इस विषय का लेख अमरीका के 'दि कोलिअर्स वीकली' के २६ जून १९४३ के अंक में छपा था।

क्या कोई राष्ट्र अकेला भी अहिन्सावादी हो सकता है—बहुत से आदमी पूछ बैठते हैं कि संसार में दूसरे सब राष्ट्रों के हिन्सावादी होते हुए क्या कोई एक राष्ट्र अहिन्सावादी रह सकता है? श्री विनोबा इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'अहिन्सक विचार प्राणाली के अनुसार विभिन्न राष्ट्रों की कल्पना केवल सुभीते की ही बुनियाद पर की जा सकती है। किसी भी एक राष्ट्र को अगर अहिन्सा की सुबुद्धि प्राप्त हो जाय तो वह राष्ट्र अपने आपको दूसरे राष्ट्रों से पृथक् और विरोधी नहीं मानेगा। आसपास के राष्ट्रों के उचित हित-सम्बन्धों की रक्षा की वह उतनी ही चिन्ता करेगा, जितनी कि अपने निज की। हिन्सावादी होने पर भी राष्ट्र समूचे दीवाने हरगिज नहीं होते। बल्कि यह कहना चाहिए कि राष्ट्र एक दूसरे की स्पर्द्धा के कारण हिन्सावादी बने हैं। मनुष्य को केवल हिन्सा के लिए हिन्सा नहीं भाती। इसलिए अगर कोई ऐसा राष्ट्र जो अहिन्सक विचार के अनुसार व्यवहार करने की इच्छा रखता है और उसी के अनुरूप दुनिया से अविरोधी सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता है तो वह आस पास के राष्ट्रों की विवेक वृत्ति को जगाकर उसे गति देगा और उतने अंश में उन राष्ट्रों को अहिन्सा के रास्ते पर लायेगा।. . . इस तरह की वृत्ति रखनेवाला अकेला राष्ट्र एकाकी नहीं रहेगा। वह सारी दुनियाभर में अपने लिए सहानुभूति का वज्रकवच निर्माण करेगा।'[1]

अहिन्सा का राष्ट्रीय प्रयोग एक तरह से व्यक्तिगत प्रयोग की अपेक्षा अधिक सुगम होगा, क्योंकि श्री विनोबा के ही शब्दों में 'व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो उनमें विरोध पैदा होकर उनमें से अहिन्सक व्यक्ति की अहिन्सा का असर हिंसक व्यक्ति के चित्त पर होने से पहले ही या बगैर उसको मौका मिले ही, यह हो सकता है कि हिंसक व्यक्ति आपे से बाहर होकर उसका काम तमाम करदे। ऐसी सम्भावना व्यक्तिगत सम्बन्धों में ही होती है, लेकिन राष्ट्रों के सम्बन्ध में इस तरह की कोई सम्भावना नहीं होती। दो राष्ट्रों में विरोध उपस्थित हो गया है, उनमें एक समूचे राष्ट्र ने एकाएक पागल होकर दूसरे अहिन्सक राष्ट्र का उसकी अहिन्सा से प्रभावित होने से पहले ही, अचानक सफाया कर दिया है, इस तरह की कल्पना नहीं की जा सकती।'

---

[1] **'स्वराज्य शास्त्र'।**

हिम्मत करने की आवश्यकता, भारत से आशा—ऊपर बताया गया है कि अहिन्सक राज्य बनने के लिए इस बात की इन्तजार करने की ज़रूरत नहीं कि पहले दूसरे सब अहिन्सक बन जायँ तब हम भी हो जायँगे। वास्तव में ऐसी मनोवृत्ति से कोई काम नहीं होता। कोई महान कार्य करना है तो किसी को तो आगे बढ़ना ही होगा। आजकल अनेक देशों में यह विचार चल रहा है कि युद्ध-निवारण की समस्या हिन्सा से हल नहीं होती। परन्तु अहिंसा की दिशा में कुछ जोरदार कदम बढ़ाने की हिम्मत कोई राष्ट्र नहीं कर रहा है। कितने ही राष्ट्र गांधीजी के भारत से इस विषय में नेतृत्व की आशा कर रहे हैं। यहां इस विषय में राजनीतिज्ञों तथा शासन-सूत्रधारों एवं विचारकों में इस विषय का बहुत संकल्प-विकल्प भी चल रहा है।

दो वर्ष हुए, दिल्ली में कुछ विद्वान और राष्ट्र-सूत्रधार एकत्रित हुए थे। उन्होंने अहिंसा के बारे में चिन्तन, मनन, विमर्श आदि किया। उसमें हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने कहा था कि आज कोई देश यह हिम्मत नहीं कर रहा कि हम सेना के बगैर चलायेंगे। आपने इस पर दुख भी प्रकट किया कि बावजूद इसके कि हमने पूज्य गांधीजी की शिक्षा प्रत्यक्ष उनके मुंह से सुनी और उनके साथ काम भी किया, हम हिंदुस्तानी भी उतनी हिम्मत नहीं कर सके। हमारे प्रधानमंत्री पं० नेहरू भी कई बार कह चुके हैं कि दुनिया का कोई भी मसला हिंसा से हल नहीं हो सकता। इससे मालूम होता है कि उनका हिंसा पर कोई विश्वास नहीं है फिर भी सेना को सुदृढ़ बनाने की जिम्मेवारी उन्हें महसूस होती है। कहते हैं कि क्योंकि जिस जनता के हम प्रतिनिधि हैं, उसमें इतनी हिम्मत और बुद्धि नहीं है, इसलिए हम उनके प्रतिनिधि के नाते सेना को मजबूत बनाना चाहते हैं।

इस कथन में सच्चाई का अंश अवश्य है। श्री विनोबा और सर्वसेवा संघ ने अनुभव किया है कि अहिन्सक समाज के निर्माण के लिए जनता को तैयार करना होगा। भूदान-यज्ञ आन्दोलन आदि द्वारा इस दिशा में जो कार्य हो रहा है, उसका कुछ उल्लेख अन्यत्र प्रसंगानुसार किया गया है।

———

उन्नीसवाँ अध्याय

वित्तीय व्यवस्था

सच्चा अर्थशास्त्र सरकार के आय-व्यय में नहीं समाया रहता, बल्कि इस बात की जांच करने में रहता है कि इस आय और व्यय से देश की प्रजा का कैसा और कितना हित साधन होता है।

—मगन भाई देसाई

इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि सर्वोदय व्यवस्था में राज्य की वित्तीय व्यवस्था कैसी होगी, उसे अपने कार्यों के लिए द्रव्य की आवश्यकता कहां तक होगी, और इस आवश्यकता की पूर्ति किस प्रकार, किन-किन साधनों से की जायगी।

पंचायतों का आय व्यय—पहले बताया जा चुका है कि सर्वोदय में राज व्यवस्था विकेन्द्रित होगी। शासन की निचली इकाइयां अर्थात् पंचायतें अपने-अपने क्षेत्र में जनता की अधिक-से-अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगी। वे न केवल प्रारंभिक शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, खेती और ग्रामोद्योगों की व्यवस्था करेंगी, वरन् न्याय और रक्षा तथा जनता के सांस्कृतिक और नैतिक उत्थान का भी आयोजन करेंगी। वे प्रादेशिक या केन्द्रीय सत्ता से आवश्यक परामर्श लेंगी, पर बात-बात में उनके आश्रित न रहेंगी। इस आधार पर ही उनकी आय-व्यय की व्यवस्था होगी। इस प्रकार शासन की प्रादेशिक इकाइयों में अधिकतर आय का संग्रह करना और उस आय को सार्वजनिक कार्यों में खर्च करना उनका ही काम होगा। सर्वोदय योजना समिति का मत है कि हमारा लक्ष्य ऐसी अर्थव्यवस्था विकसित करना होना चाहिए जिसमें सार्वजनिक आय का ५० प्रतिशत संग्रह और व्यय ग्राम-पंचायतें ही करें, शेष पचास प्रतिशत उनसे ऊपर के संगठनों के लिए छोड़ देना चाहिए।

पंचायतों की आय के मुख्य साधन क्या होंगे, और वह आय किन कामों में खर्च होगी, यह पहले 'स्थानीय और जिला पंचायतें' शीर्षक अध्याय में बताया जा चुका है।

प्रादेशिक सरकारों की आय; मालगुजारी—प्रादेशिक सरकारों की आय का मुख्य साधन मालगुजारी की रकम होगी, जो पंचायतों द्वारा उन्हें दी जायगी। सर्वोदय में ऐसी व्यवस्था होगी कि प्रत्येक परिवार को खेती और उद्योग-धंधे से इतनी आय अवश्य हो कि उसका निर्वाह हो जाय; उसकी सब अनिवार्य अर्थात् मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय। इसलिए मालगुजारी उसी खेती से ली जायगी जिसमें इससे अधिक आय हो। मालगुजारी की दर निर्धारित करने में देश-काल तथा लोकहित का, यथेष्ट ध्यान रखा जायगा; जो वस्तु मानव जीवन के लिए जितनी अधिक उपयोगी होगी, उतनी ही उसकी पैदावार पर मालगुजारी की दर कम होगी।

मालगुजारी वसूल करने में किसानों की सुविधाओं का ध्यान रखना आवश्यक है। इसलिए जो किसान चाहें, वे मालगुजारी नकदी के बजाय जिन्स में भी दे सकेंगे। इसके लिए यह जरूरी नहीं होगा कि सरकार खेती की सभी पैदावारों का हिस्सा ले। ऐसी व्यवस्था होगी कि प्रत्येक प्रादेशिक सरकार पंचायतों के परामर्श से हरेक क्षेत्र की कुछ खास-खास पैदावारों की सूची रखेगी, और इन्हीं पैदावारों के निर्धारित हिस्से से वह अपनी तथा किसानों की सुविधा का विचार कर के मालगुजारी वसूल करायेगी। मालगुजारी को जिन्स के रूप में लेने की कठिनाई विविध सहकारी संस्थाएँ तथा प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र में एक-एक अनाज-बैंक स्थापित होने से सहज ही हल हो जायगी।

मालगुजारी श्रम के रूप में भी चुकायी जाने की व्यवस्था रहेगी। श्रम की आवश्यकता सभी कामों में होती है, इसके द्वारा ग्रामीण जनता के हित के विविध कार्य किये जा सकते हैं। पंचायत घर, पाठशाला, शौचालय, सहकारी समिति भवन, चिकित्सालय, तालाब, सड़क, आदि बनवाने तथा मरम्मत और सफाई का काम हो सकता है। मालगुजारी को श्रम के रूप में चुकाने की व्यवस्था होने से यह लाभ है कि इससे प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक सम्पत्ति बढ़ाने में अपने कर्तव्य का सहज ही पालन कर सकता है।

केन्द्रीय सरकार का आय व्यय—सर्वोदय व्यवस्था का मूल तत्व विकेंद्रीकरण होने से केन्द्रीय सरकार की आय एवं व्यय सीमित ही होगा। रेल, बिजली, डाक, तार, जहाज, हवाई यातायात, मुद्रा और बैंक आदि सार्वजनिक उपयोग के कार्यों में मुनाफे की दृष्टि नहीं होगी। घुड़दौड़, मादक पदार्थ, लाटरी आदि बन्द होने से इन मदों से होने वाली आय नहीं रहेगी। अर्थ व्यवस्था विकेन्द्रित होने से जो उत्पादन होगा, उसमें सर्वसाधारण जनता के उपयोग के पदार्थों की ही वृद्धि होगी, ये पदार्थ छोटी-छोटी इकाइयों में बिखरे होने से इन पर कर लगाना सम्भव न होगा, अगर कर लगाया गया तो उसे वसूल करने का खर्च निकलने पर विशेष बचत न होगी। इस प्रकार उत्पादन अधिक होने पर भी सरकार को कर के रूप में आय बहुत कम ही होगी। सम्पत्ति कर, बिक्री कर से आमदनी कुछ विशेष होने वाली नहीं। फिर देश के स्वावलम्बी होने के कारण उसे विदेशों से आयात की खास जरूरत न रहेगी। और इसी प्रकार वह मुनाफे के लिए उत्पादन न करने वाला होने से उसका निर्यात भी कम होने वाला ठहरा। आयात-निर्यात कम होने का अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कम होगा और सरकार को इस मद से बहुत मामूली ही आमदनी होगी। अस्तु, केन्द्रीय सरकार की आय का मुख्य साधन सार्वजनिक स्वामित्व वाले केन्द्रित उद्योग ही होंगे।

जैसा पहले कहा गया है केन्द्रीय सरकार जो कार्य जनता के लिए करेगी उसके खर्च के लिए ग्राम-पंचायतें, प्रादेशिक सरकारों द्वारा उसे आवश्यक सहायता देंगी।

वित्तीय व्यवस्था का लक्ष्य; आयव्यय की वृद्धि नहीं, जनता का हित साधन—सर्वोदय में सरकारी वित्त व्यवस्था का लक्ष्य अधिक-से-अधिक आय प्राप्त करना और अधिक-से-अधिक खर्च करना नहीं होगा। उसमें तो बराबर यह विचार करना होगा कि आय उन्हीं साधनों से प्राप्त हो जो लोकहित की दृष्टि से उचित हों, और व्यय भी उन्हीं कामों में किया जाय जिनसे जनता का वास्तव में कल्याण हो। यदि किसी कार्य में व्यय करना हितकर है, तो भी इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उसके लिए आय किस प्रकार प्राप्त की जाय। उदाहरण के लिए शिक्षा प्रचार के लिए भी मादक पदार्थों से होने वाली आय प्राप्त करना अनुचित है। इसी तरह सरकार का केंद्रित यंत्रोद्योगों को केवल इस आधार पर प्रोत्स

हन देना क्षम्य नहीं कि उनसे सरकार को सहज ही बहुत आमदनी हो जाती है, जब कि उनसे जनता में बेकारी फैलती है, और आर्थिक असमानता बढ़ती है ।

आय का रूप; नकदी, माल और मजदूरी—ऊपर कहा गया है कि मालगुजारी, जिन्स तथा मजदूरी के रूप में भी ली जाने की व्यवस्था रहनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य सरकारी करों के सम्बन्ध में भी लोगों को यह अधिकार रहना चाहिए कि वे चाहें तो अन्य करों को भी इसी रूप में दे सकें। यह प्रतिबंध न रहे कि वे अपने कर नकदी में ही चुकावें। इससे लोगों को स्वभावतः लोकोपयोगी वस्तुएं पैदा करने या बनाने की, तथा अपने श्रम को उपयोगी कार्यों में लगाने की प्रेरणा होगी और राज्य में जनता की स्थिति अधिक सुखमय होगी।

सर्वोदय व्यवस्था में सरकारी खर्च बहुत कम होगा—साधारण तौर पर यह समझा जाता है कि सरकार जितना अधिक खर्च करती है, उतना ही वह जनता की सुख-सुविधा और उन्नति की अधिक व्यवस्था करती है। परन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि सरकार द्वारा किये जाने वाले विविध कार्यों का विशेष लाभ फी सैकड़ा कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों को मिलता है। राजधानियों या बड़े-बड़े शहरों में जो महाविद्यालय, ऊँचे दर्जे के अस्पताल, सिमेंट और तारकोल की सडकें बनती हैं, उनका देश के कुल मिला कर कितने नागरिक उपयोग कर पाते हैं, यद्यपि उनके निर्माण-व्यय में सभी को हिस्सा लेना पड़ता है।

सर्वोदय व्यवस्था में यह दोष नहीं रहेगा। उसमें समाज के साधारण से साधारण नागरिकों के भी हित का यथेष्ट ध्यान रखा जायगा। शासन में विकेन्द्रीकरण पद्धति होने से शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, न्याय और यातायात आदि का अधिकांश कार्य गांव गांव में पंचायतों द्वारा हो जाने से सरकार को इन मदों में विशेष खर्च करना न होगा। इसके अतिरिक्त शासन बहुत सरल हो जाने से भी खर्च बहुत घट जायगा। धन के बजाय श्रम की प्रतिष्ठा होने से लोगों में सेवा भाव की वृद्धि होगी। साधारण वेतन ले कर ही काम करने के लिए अच्छे योग्य व्यक्ति यथेष्ट संख्या में मिलेंगे। राज्य की नीति अहिन्सामूलक होने के कारण पुलिस और सेना आदि का रूप बदलने के साथ इस मद में होने वाला खर्च भी घट जायगा।

सरकारी कोष—इस व्यवस्था से सरकारी खजाने में नकद रुपया भले ही कम हो, लेकिन वह भोजन वस्त्र आदि की आवश्यक सामग्री से भरा-पूरा रहेगा।

फिर सरकारी धन-राशि का अधिकांश भाग किसी एक स्थान पर केन्द्रित न रह कर प्रदेशों और गांव-गांव में जगह-जगह बटा हुआ रहेगा। इस प्रकार उसका वास्तविक मूल्य कहीं अधिक बढ़ा हुआ होगा। इस बात को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक आदमी के पास एक लाख रुपये हैं, उसके लिए दस रुपये कोई बड़ी चीज नहीं, वह ऐसी रकम को कुछ महत्व नहीं देता। पर यदि यह रकम दस हजार आदमियों में बंटी हुई हो तो साधारण श्रेणी के आदमी के लिए दस रुपयों का बहुत अधिक मूल्य होगा, इस रकम से वह बहुत सुख-सुविधा प्राप्त कर सकेगा। इससे स्पष्ट है कि जब राष्ट्र की सम्पत्ति किसी एक या कुछ इने गिने कोषों में जमा होती है तो उसका वास्तविक मूल्य बहुत कम होता है, उसकी कीमत बढ़ाने के लिए उसे सर्वसाधारण में बंट जाना चाहिए। जिससे वह अधिकाधिक लोगों में, व्यापक रूप से उपयोग में आ सके। सर्वोदय में यही ोता है। उसमें सम्पत्ति न तो धन-कुबेरों के पास जमा होती है, और न किसी खास सरकारी खजानेमें। वह विकेन्द्रित होती है और जन-जन का कल्याण करती है।

विशेष वक्तव्य—इस तरह सर्वोदय व्यवस्था में इस समय की अपेक्षा सरकारी खर्च बहुत कम होगा, इससे जनता पर करों का भार स्वयमेव कम रह जायगा। विशेष बात यह होगी कि सरकार का खर्च करने का ढंग ऐसा होगा कि उससे थोड़े से लोगों की आरामतलवी और विलासिता और शेष अधिकांश जनता की साधारण आवश्यकताओं के भी पदार्थों की कमी न हो कर सब के हित का यथेष्ट ध्यान रखा जायगा। शासन बहुजनहिताय--बहुजनसुखाय ही नहीं, सर्व-हितकारी, सर्वजन-सुखाय हो कर अपने सर्वोदयी विशेषण को सार्थक करेगा।

———

बीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

अहिन्सक विचार प्रणाली के अनुसार एक ही मानवसमाज में विविध राष्ट्रों की कल्पना केवल सुभीते की ही बुनियाद पर की जा सकती है। किसी भी एक राष्ट्र को अगर अहिन्सा की सुबुद्धि प्राप्त होजाय तो वह राष्ट्र अपने आपको दूसरे राष्ट्रों से पृथक और विरोधी नहीं मानेगा। आसपास के राष्ट्रों के उचित हित सम्बन्धों की रक्षा की वह उतनी ही चिन्ता करेगा, जितनी कि अपने निज की।

—विनोबा

मैं एक मनुष्य के रूप में मानव-समाज से अपील करता हूं कि तुम सब कुछ भूलकर मनुष्यता को याद रखो और तुम्हारे लिए एक नये स्वर्ग का द्वार खुलेगा। नहीं तो सारा मानव-समाज नष्ट होगा।

—बर्ट्रेंड रसेल

पिछले अध्यायों में राज्य सम्बन्धी विशेषतया आन्तरिक विषयों का विचार किया गया है। अब हम यह विचार करेंगे कि एक राज्य का दूसरे राज्यों से, सर्वोदय दृष्टि से, कैसा सम्बन्ध रहना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का उद्देश्य—वर्तमान अवस्था में विविध राज्यों का एक दूसरे से स्नेह और सौहार्द का सम्बन्ध कम ही होता है। कोई दूसरे की जमीन हड़पना चाहता है, कोई दूसरे का शोषण करना चाहता है, किसी को अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने की धुन है। गुटबन्दी जोर पकड़ रही है। संसार में हर समय युद्ध की काली घटा छायी रहती है। इसे दूर करने के प्रयत्न भी चल रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मेल बढ़ाने और तनातनी दूर करने के लिए कई संस्थाएँ भी अपने-अपने क्षेत्र में काम कर रही हैं। अस्तु, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे होने चाहिएँ कि संसार के सब

राज्य अपने आपको एक महान विश्व-परिवार के अंग समझें और एक दूसरे की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक उन्नति में स्वेच्छा-पूर्वक सहयोग प्रदान करते रहें।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कई प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए एक राज्य दूसरे राज्य के नागरिकों से कैसा व्यवहार करता है। यदि कोई विदेशी उस राज्य का नागरिक बनना चाहता है तो उसके लिए कहां तक मार्ग प्रशस्त है, अथवा नागरिकता प्राप्त करने के क्या नियम कायदे हैं। बाहर के विद्यार्थियों, यात्रियों या दर्शकों आदि को कहां तक सहूलियत दी जाती है, अथवा उनके लिए क्या प्रतिबन्ध हैं। राज्य की, दूसरों के साथ व्यापार करने में नीति कैसी है; वह उनका कच्चा या तैयार माल लेने में, अथवा अपना माल वहां भेजने में कहां तक कैसी भावना का परिचय देता है। वह बाहर की पूंजी या विशेषज्ञों का अपने यहां कहां तक स्वागत करता है, अथवा अपनी पूंजी और विशेषज्ञों को दूसरे राज्यों में भेजने के लिए कितना इच्छुक और प्रयत्नशील रहता है। उस राज्य की दूसरे राज्यों से सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने की कहां तक इच्छा है, और वह इसके लिए किन-किन उपायों को काम में लाता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जिस खास बात का विचार होता है, वह यह है कि कोई राज्य युद्ध या शान्ति के विषय में किस किस राज्य से मित्रता या सहयोग की नीति रखता है, किसके प्रति वह तटस्थ या उदासीन है, और किसके प्रति विरोध, वैमनस्य और शत्रुता का भाव रखता है।

सर्वोदय दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय नीति—स्पष्ट है कि सर्वोदय दृष्टि रखने वाला राज्य सब का हित या उदय चाहता है तो वह स्वयं तो किसी पर आक्रमण करने की कल्पना ही नहीं कर सकता, चाहे दूसरा राज्य कितना ही छोटा या सैनिक विचार से कितना ही कमजोर क्यों न हो। दूसरा भी कोई राज्य उस पर आक्रमण न करे, ऐसा उसका व्यवहार रहता है (यह आगे स्पष्ट किया जायगा)। पर यदि संयोग से कोई उस पर आक्रमण कर ही डाले तो वह उसका प्रतिकार हिन्सात्मक पद्धति से करके उसकी हिन्सक शक्ति को उत्तेजित नहीं करेगा, वरन अपनी अहिन्सा, त्याग और बलिदान से उसकी सत्प्रवृतियों को जागृत करने

और संसार के अन्य राज्यों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इसके अतिरिक्त सर्वोदय दृष्टि वाले राज्य की यह भी इच्छा और लगन रहेगी कि कोई राज्य किसी पर आक्रमण न करे, संसार में युद्ध न हो, सर्वत्र शान्ति रहे। जब कभी वह किसी राज्य पर आक्रमण होता देखेगा तो वह उस राज्य को अपना नैतिक बल प्रदान करेगा, चाहे ऐसा करने में उसे आक्रमणकारी का कोपभाजन ही क्यों न बनना पड़े।

निदान, सर्वोदय दृष्टि वाले राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का मूल-सूत्र विश्व-शान्ति और मानवता का विकास होगा। इस पर विशेष प्रकाश डालने से पहले यह विचार कर लिया जाय कि सर्वोदय दृष्टि वाले राज्य की अन्य देश वालों को नागरिकता प्रदान करने तथा उनसे व्यापार करने में क्या नीति रहेगी।

नागरिकता, सब के लिए सुलभ—वर्तमान काल में प्रायः प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों के नागरिकों को अपना नागरिक बनाने में बहुत कृपण या अनुदार रहता है। सर्वोदय में ऐसा न होगा; राज्य बाहर वालों के लिए अपनी नागरिकता का द्वार बन्द नहीं रखेगा। वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को अपना नागरिक मानेगा जो वहां आकर बस गया है, और जो शरीर-श्रम द्वारा अपना निर्वाह करने वाला तथा राज्य की सेवा में भाग लेने वाला हो। ऐसे व्यक्तियों के बढने से सर्वोदय राज्य की कोई हानि नहीं होगी। बाहर के शरीर-श्रम करने वाले व्यक्तियों के लिए नागरिकता का द्वार खुला रहने से यह आशंका करना व्यर्थ है कि उनके कारण राज्य में जनसंख्या बेहद बढ़ जायगी; वे आरामतलबी या विलासिता का जीवन बिता कर वहां के नागरिकों के लिए बुरा उदाहरण नहीं रखेंगे और न उनका किसी प्रकार शोषण करेंगे। वे तो अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार राज्य के सार्वजनिक जीवन में यथेष्ट कर्तव्य पालन करने वाले होंगे। श्री बिनोवा की भाषा में हम कह सकते हैं कि इनके कारण जनसंख्या में होने वाली वृद्धि से कोई खतरा नहीं। इनके एक-एक मुंह होगा तो दो-दो हाथ भी तो होंगे। राज्य जनसंख्या के बोझ से नहीं दबता, वह तो पापों के बोझ से दबता है संसार भर में पृथ्वी पर बोझ तो केवल आलस्य, ईर्ष्या और भोग विलास का है

स्मरण रहे कि सर्वोदय राज्य में उनलोगों के भी ,सुख-सुविधा का यथेष्ट

ध्यान रखेगा, जो वहां थोड़े समय के लिए, अस्थायी तौर पर ही आयेंगे और इस लिए नागरिकता-प्राप्त न होंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-नीति—पहले कहा गया है कि सर्वोदय व्यवस्था में प्रत्येक ग्राम-क्षेत्र अपनी प्रमुख आवश्यकताओं के सम्बन्ध में अधिक से अधिक स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करेगा। जिन वस्तुओं की उत्पत्ति या तैयारी वह किसी कारण से स्वयं न कर सकेगा, उन्हें वह अन्य निकट के ग्राम क्षेत्रों से ले लेगा। इस प्रकार प्रान्त के बाहर से उसे कुछ विशेष वस्तुओं के लेने की जरूरत न होगी। और, देश को तो दूसरे देशों के आश्रित होने का अवसर कदाचित ही आयेगा। सर्वोदय का मूल मंत्र स्वावलम्बन होगा। इस प्रकार मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशों से कोई आयात न करनी होगी। फैशन और विलासिता आदि की आवश्यकताओं पर नियंत्रण रहेगा। आदमी संयम से काम लेंगे और अनावश्यक उपभोग से बचने वाले होंगे।

अब निर्यात की बात लें। सर्वोदय व्यवस्था में कोई देश दूसरों का द्रव्य खैंचने के लिए फैशन या विलासिता की वस्तुएँ तो बनायेगा ही नहीं, इसलिये इनके निर्यात का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। रही मूल आवश्यकताओं के पदार्थों की बात। इनका निर्यात भी स्वार्थ-साधन या मुनाफाखोरी की भावना से नहीं किया जायगा, उसमें छल कपट, जोर जबरदस्ती नहीं होगी। यह निर्यात उसी दशा में होगा, जब दूसरों को उसकी वास्तव में आवश्यकता होगी, जब यह दूसरों के लिए हितकारी होगा। इस प्रकार आयात और निर्यात दोनों का परिमाण बहुत सीमित रहेगा, कोई देश न तो दूसरे का शोषण करेगा और न दूसरों को अपना शोषण करने देगा। जब कि हम अपने पराये का भेद ही न रखेंगे, तो एक दूसरे की सहायता करना ही अपना कर्तव्य समझना स्वाभाविक होगा।

यह बात विश्व-शान्ति में बहुत सहायक होगी : पर विश्व-शान्ति तो इस समय संसार की सब से विकट अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है; इस पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

विश्व-शान्ति की समस्या; अहिन्सक उपायों की आवश्यकता—मनुष्य चिरकाल से अपने अपने क्षेत्र में शान्ति स्थापना का प्रयत्न करता आ रहा है। अब संसार के विविध भागों का सम्पर्क बढ जाने से, कुछ हिस्सों में शान्ति रहने

से काम नहीं चलेगा। भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू के शब्दों में, अब युरोपीय या एशियाई शान्ति जैसी कोई भी चीज नहीं हो सकती। अब या तो विश्व-युद्ध होगा या विश्व-शान्ति। हमें गम्भीरता पूर्वक समझ लेना चाहिए कि अगर हम विश्व-युद्ध नहीं चाहते तो हमें विश्व-शान्ति के लिए ही प्रयत्न करना होगा।

ध्यान में रखने की दूसरी बात यह है कि हिन्सा के द्वारा शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती यह बात अब तक के, हजारों वर्षों के, इतिहास से अच्छी तरह स्पष्ट है। हिन्सा के द्वारा शान्ति-प्राप्ति की आशा करना ऐसा ही है जैसा किसी जख्म को खून के द्वारा धोकर साफ करने की; कारण, हिन्सा की प्रतिक्रिया आगे पीछे हिन्सा ही होने वाली ठहरी। पहले बताया जा चुका है कि हिन्सा से कोई समस्या हल होने के बजाय नयी-नयी समस्याएँ पैदा होती रहती है, और वे आगे पीछे पैदा होती ही है। इस लिए आवश्यकता है कि अहिन्सात्मक पद्धति को ही अपनाया जाय। इस दिशा में अभी विशेष कार्य तो नहीं हुआ, पर विचार क्रमशः बढ रहा है।

विश्व-शान्ति के कुछ बुनियादी सिद्धान्त—संसार में शान्ति बनाये रखने के लिए समय-समय पर विविध राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों ने कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त सुझाये हैं। पिछले दिनों भारत और चीन के प्रधान मंत्रियों ने, नयी दिल्ली में मिलने पर अपने संयुक्त वक्तव्य में ये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे—

१. एक-दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और सार्वभौम सत्ता के लिए परस्पर आदर-सम्मान,
२. एक-दूसरे पर हमला न करना,
३. एक-दूसरे के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करना,
४. समानता और परस्पर लाभ, और
५. शान्ति-पूर्ण सह-जीवन।

उपर्युक्त पांच सिद्धान्तों को भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने 'पंचशिला' नाम दिया है। पंचशिला का विचार एशिया और अफ्रीका के देशों में बहुत लोकप्रिय होता जा रहा है। कई देशों के शासकों ने इसे नियमित रूप

से स्वीकार न करने पर भी इसे स्थायी शान्ति का आधार कहा है। यों तो कोई भी राज्य इन सिद्धान्तों की निन्दा या खंडन नहीं करता, पर प्रायः राज्य इन्हें अमली रूप देने में झिझकते हैं।

युद्धों के मूल कारणों का अन्त होना आवश्यक; गांधी जी का मार्ग—गांधी जी के गम्भीर विचारानुसार युद्धों के मूल कारण (१) व्यक्ति के जीवन में, (२) राजनैतिक जीवन में, और (३) आर्थिक जीवन में हैं। इसलिए पहले तो आदमी को अपनी रोजाना जिन्दगी में—भोजन में भी—अहिन्सा का प्रवेश करना चाहिए। अहिन्सा का पालन करने वाले में आत्म-संयम या आत्म-त्याग गुण होना जरूरी है। ऐसा व्यक्ति सादगी का जीवन बितायेगा। उसकी जरूरतें कम होंगी। गांधीजी ने बताया कि जीवन के हर क्षेत्र में—खानपान, विषय भोग वगैरा हर बात में ब्रह्मचर्य या कठोर आत्म संयम का पालन किया जाय।

राजनैतिक जीवन से हिन्सा का दोष दूर करने के लिए गांधीजी मानते थे कि आज के सर्वसत्ताधारी केन्द्रित राज्य का अन्त करने का एक मात्र इलाज यह है कि सच्ची लोकशाही या लोकराज की स्थापना की जाय, जो अपने काम-काज की खुद व्यवस्था करने वाले गांवों जैसे छोटे समूहों में ही सम्भव हो सकती है।

दुनिया के राष्ट्रों में जो कशमकश और तनातनी चल रही है, उसका काफी बड़ा कारण केन्द्रित उत्पादन है जिसके लिए औद्यौगिक राज्य निरंतर कच्चे माल और बाजारों की खोज में रहते हैं। वे आपस में लडते-झगड़ते हैं, इससे युद्ध और साम्राज्यवाद का जन्म होता है। इसलिए गांधीजी का यह प्रयत्न और प्रचार रहा कि विकेन्द्रित स्वावलम्बी ग्राम-अर्थरचना स्थापित की जाय, जिसका ध्येय, स्थानीय कच्चे माल से, दूर के बाजारों के लिए नहीं, बल्कि स्थानीय जरूरतें पूरी करने के लिए उत्पादन करना हो, जिससे गुलामी और शोषण बन्द हो। उन्होंने भारत से आग्रह पूर्वक कहा कि अगर वह शान्ति पूर्ण और अहिन्सक बनना चाहता है तो उसें विकेन्द्रित पद्धति से गृहउद्योगों द्वारा, उत्पादन करना चाहिए, जिसमें व्यक्ति अपने उद्योग-धंधे खुद या पडोसियों के सहयोग से चलाना सीखता है।

इस प्रकार जब तक जीवन के सभी अंगों में अहिन्सा व्याप्त न हो, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की आशा करना व्यर्थ है।[1]

शान्तिके लिए आर्थिक शर्तें—अन्तर्राष्टीय संघर्ष का मूल विशेषतया आर्थिक क्षेत्र में होता है। इसलिए युद्धों का अन्त करने के लिए हमें वर्तमान अर्थव्यवस्था को बदलना और आर्थिक संगठन की पुनर्रचना करनी होगी। आजकी उत्पादन, वितरण, उपभोग की पद्धतियों में गम्भीर अहिन्सक दृष्टि रखनी होगी। इसलिए डा० कुमारप्पा ने शान्ति के लिए आर्थिक शर्तें ये बतलायीं हैं।

(१) कच्चा माल पैदा करने वाले को काफी पैसा मिलना चाहिए, ताकि वह उचित जीवन, मान रख कर अपना निर्वाह कर सके।

(२) इस बात को आधार मान कर माल की कीमत तय की जानी चाहिए और कच्चा माल पैदा करने वाले का अपने माल की कीमत तय करने में हाथ होना चाहिए।

(३) कच्चा माल जहां पैदा हो, वहीं उससे जरूरत की चीजें तैयार की जानी चाहिएँ। इससे उस प्रदेश के लोगों को ज्यादा काम-धंधा मिल सकेगा और कोई देश 'अर्द्ध-विकसित' न रहेगा।

(४) ग्राहक को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए, जिससे वह उत्पादक के प्रति अपना कर्तव्य समझ सके। इसके लिए ग्राहक को माल की कीमत के विभिन्न अंगों की पूरी जानकारी हो जानी चाहिए।

(५) अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बचे हुए माल में ही होना चाहिए।[2]

आर्थिक स्वावलम्बन की आवश्यकता—सर्वोदय व्यवस्था में हमने प्रत्येक देश के स्वावलम्बी होने की बात कही है। स्वावलम्बन की नीति विश्व-शान्ति में बहुत सहायक होगी, यह जरा विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा। आजकल कितने ही देश अपनी मूल आवश्यकताओं को पूरी करने की ओर ध्यान न

[1]'हरिजन सेवक' (२५ मई १९५४) में प्रकाशित श्री भारतन कुमारप्पा के उस निबन्ध से जो अप्रैल १९५४ में जापान में हुई शांति-परिषद में पढ़ा गया था।

[2]'हरिजनसेवक', २८ अगस्त १९५४

देकर व्यापार की ओर झुके हुए हैं। वे अपने यहां पैदा हो सकने वाले या खानों से निकलने वाले ऐसे पदार्थों की निर्यात बढाने में लगे होते हैं, जिनसे उन्हें खूब द्रव्य की प्राप्ति हो——जैसे रबड या मिट्टी का तेल आदि। इन देशों पर विदेशी उद्योगपतियों या साम्राज्यवादी राष्ट्रों की निगाह लगी रहती है, वे इन पर अधिकार जमाना या इन्हें अपने प्रभाव में रखना चाहते हैं। वे मौका पाकर इनपर आक्रमण कर इन्हें धर दबाने का प्रयत्न करने से नहीं चूकते। अनेक बार ऐसा होता है ऐसे देशों पर कई प्रबल राष्ट्र कब्जा करना चाहते हैं, इससे उनमें आपस में, प्रति-द्वन्दिता और युद्ध ठन जाता है, जो आधुनिक काल में विज्ञान की प्रगति तथा राष्ट्रों की गुटबन्दी के कारण महायुद्ध का रूप धारण कर लेता है। स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले मुनाफे के लोभ को छोड़ दें और व्यापारिक पदार्थों की उत्पत्ति में न लगा रह कर अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगे तो वह अपने आपको विदेशी उद्योगपतियों और साम्राज्य-वादी राष्ट्रों को गिद्ध-दृष्टि से बचा सकता है और साथ ही संसार में फैली हुई तनातनी को कम करने में बहुत सहायक हो सकता है।

डाक्टर कुमारप्पा के विचार—इस प्रसंग में डाक्टर जो० का० कुमारप्पा का यह कथन बहुत विचारणीय है—'दुनिया की सरकारों को चाहिए कि वह एक ऐसा रास्ता इखत्यार करें कि वह आम जनता की बुनियादी जरूरतों को पूरा कर सकें और उन्हें जनता को सुख पहुंचाने और उसकी भलाई करने का हर वक्त ध्यान रहे। दौलत किस तरह इकट्ठी की जाय, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं होनी चाहिए। जब तक हम अपना दृष्टिकोण नहीं बदलते हैं, जब तक हम अपने माली ढांचे को नये सिरे से खडा नहीं करते हैं, जब तक हम अपनी कोशिशों से जनता की जरूरत का सामान नहीं पैदा करते हैं, जब तक हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से फायदा उठाने का मोह नहीं छोड़ते हैं—तब तक हम दुनिया में शान्ति कायम नहीं कर सकते। साम्राज्य-सरकारों से कागजी समझौते चाहे जितनी अच्छी नीयत से किये जाँय, वे शान्ति को स्थायी नहीं बना सकते। सच्ची और स्थायी शान्ति केवल उसी वक्त कायम हो सकती है, जब हम संगठित हों, और उसके लिए अपनी कोशिश करें। आज की लड़ाई यकीनन आर्थिक गड़बड़ी का नतीजा है। अगर हम अपने आर्थिक ढांचे को बदल दें तो हम हमेशा के लिए शान्तिमय

जीवन बिता सकते हैं। इसको हासिल करने के लिए बहुत मजबूत इरादे और बहुत बड़ी हिम्मत की जरूरत है। अगर सारे पिछड़े देश इस बात को समझ लेते हैं और एक साथ खड़े हो जाते हैं तो शान्ति बहुत जल्दी कायम हो जायगी। इस काम के लिए हम सबको एक हो जाना चाहिए और हमें यह प्रण करना चाहिए कि मरेंगे तो विश्व-शान्ति के लिए, और जीयेंगे तो विश्व-शान्ति के लिए।[1]

इस महत्वपूर्ण कथन की एक बात के सम्बन्ध में हमें कुछ संशोधन आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें जनता की जरूरतें पूरी करने तथा उसकी भलाई करने केलिए सरकारों को कहा गया है। पर इधर यह अनुभव हुआ है कि सरकारों से इस प्रकार के शान्तिमूलक कार्यों की विशेष आशा नहीं रखनी चाहिए। अकसर वे युद्ध-सामग्री बनाने वाले कारखानों के मालिकों से प्रभावित होकर, अथवा अपनी राज्य-विस्तार आदि रजोगुणी महत्वाकांक्षाओं के कारण ऐसे देशों से युद्ध ठानती रहती हैं जिनके निवासियों ने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा। इसलिए शान्ति-स्थापना का कार्य सरकारों पर न छोड़कर स्वयं जनता को अपने हाथ में लेना चाहिए। सर्वोदय व्यवस्था में सरकारों की उपेक्षा करके जनता को स्वयं अपना अभीष्ट सिद्ध करना है। जनशक्ति इतनी प्रबल होनी चाहिए कि सरकार को, यदि वह हो ही, जनता की मांग के अनुसार विश्व-शान्ति के लिए योग देना पडे। अस्तु, सरकार की सहायता मिले या न मिले हरेक देश की जनता को अपनी बुनियादी जरूरतें स्वयं पूरी करके तथा आयात-निर्यात-नीति में मुनाफे का विचार छोड़ कर दूसरे देशवालों के प्रति आत्मीयता की भावना रखते हुए, विश्व-शान्ति की दृष्टि से जीवन बिताना चाहिए, और आवश्यकता हो तो जीवन न्योछावर करके भी इस महान उद्देश्य के लिए अपनी निष्ठा का परिचय देना चाहिए।

विशेष वक्तव्य—यह अच्छी तरह समझ लेना है कि युद्ध का उपाय हिन्सा नही है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का आधार अहिन्सा ही हो सकती है। अहिन्सा, जीवन के सभी क्षेत्रों में होनी चाहिए। इसका अर्थ है, आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, राजनैतिक क्षेत्र में शासन का विकेन्द्रीकरण, सामाजिक क्षेत्र में ऊँच-नीच के भेद का निवारण, और शिक्षा के क्षेत्र में शारीरिक और बौद्धिक

---

[1] 'नया हिन्द', जुलाई १९५४

समतौल। अहिंसक समाज की रचना के लिए सत्याग्रह और असहयोग अनिवार्य हैं। आक्रमणकारियों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न रखते हुए और उन्हें कोई कष्ट न पहुँचाते हुए उनके आक्रमण का डट कर विरोध करना चाहिए और किसी भी भय या प्रलोभन से उनसे सहयोग नहीं करना चाहिए। जब तक हम इस नियम का पालन करते रहेंगे, आक्रमणकारियों की निराशा और हमारी सफलता निश्चित है। इस प्रकार राजव्यवस्था सर्वोदय दृष्टि से होने पर वह देश के भीतर तथा बाहर विश्व भर में सुख शान्ति प्रदान करने वाली होगी और उससे मानवता का यथेष्ट विकास होगा।

———